# हठयोग प्रदीपिका

ॐ

# हठयोग प्रदीपिका

(सरल टीका एवं व्याख्या सहित)


सम्पादकः

## डॉ० चमनलाल गौतम

रचयिता—तन्त्र महाविज्ञान, ओंकार सिद्धि, मन्त्र शक्ति से रोग निवारण-विपत्ति निवारण—कामना सिद्धि, तथा प्राणायाम के असाधारण प्रयोग इत्यादि।

सम्पादक : हठयोग प्रदीपिका घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, बृहत शिव स्वरोदय आदि।



प्रकाशकः

## संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली-२४३००३

प्रकाशक :
डॉ. चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजाकुतुब (वेदनगर)
बरेली—२४३००३. (उ०प्र०)
फोन : ४७४२४२.

✡

सम्पादक :
डॉ० चमनलाल गौतम

✡



✡

संशोधित संस्करण : सन् 2019

✡

मुद्रकः

हिन्द प्रिन्टिंग प्रेस
बड़ा बाजार, बरेली (उ.प्र.)
मोबा. 9319930140
9897094711

✡

मूल्य : 60/

# भूमिका

प्रस्तुत 'हठयोग प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ भगवान् श्री आदिनाथ द्वारा उपदेशित हठयोग विद्या का लिपिबद्ध संग्रह है, जो कि हठयोग विद्या रूप अथाह समुद्र में डुबकी मारकर अमूल्य निधि को निकाल लाने के समान है। इस ग्रन्थ के द्वारा न जाने कब से योग-जिज्ञासु पुरुष उपकृत होते आये हैं और वर्तमान काल में भी उपकृत हो रहे हैं। इसीलिए इसकी प्रसिद्धि आज भी उतनी ही है, जितनी कि प्राचीन काल में रही है।

श्री आदिनाथ भगवान् शिव का ही एक नाम है, जो कि योगी-समाज में ही नहीं, जन-साधारण में भी अपरिचित नहीं है। उन्हीं आदिनाथ नामधारी शिव ने सांसारिक जीवों को मद-मोह से निकाल कर उनका कल्याण करने के उद्देश्य से जगज्जननी भगवती पार्वती जी के प्रति इस उपदेश को कहा था।

हठयोग विद्या, वह विद्या है जिसका सेवन करके अनेकानेक महायोगी पुरुष संसार-सागर से सहज ही पार हो गए। पुराणों के वर्णनानुसार सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने भी ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए इसी विद्या का आश्रय लिया था और ब्रह्मा ही नहीं, विष्णु, शिव, नारद, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि अनेक देवता, ऋषि-महर्षि आदि सभी इसका आश्रय लेकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करते रहे हैं। इसीलिए बड़े-बड़े योगाचार्यों और ज्ञानी पुरुषों ने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है और वे इसके उपदेशानुसार आचरण में प्रवृत्त होते रहे हैं।

यह भी मान्यता है कि हठयोग विद्या को सर्व प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ ने भगवान् आदिनाथ के श्रीमुख से श्रवण किया था और इस श्रवण किये हुए योग का परम्परागत

पालन होता रहा तथा समय-समय पर सार रूप में जिज्ञासुओं के समक्ष आता रहा। अधिक कठिन और निरर्थक अंशों का त्याग होते-होते अन्त में इस ने 'हठयोग प्रदीपिका'— का रूप ग्रहण किया और तब गोरक्षनाथ जी की कृपा से उन्हीं के अनुसार इसका सारभूत एवं उत्कृष्ट रूप जिज्ञासुजनों के हितार्थ प्रकट हुआ।

'हठयोग प्रदीपिका' नामक इस ग्रन्थ के चार विभाग कर प्रथम उपदेश से चतुर्थ उपदेश पर्यन्त चार उपदेशों में प्रस्तुत मनुष्यों के लिए इसका समझना सुगम नहीं था और अब तक इसके अनुवाद या टीकाएँ भी कुछ ऐसी भाषा में थी, जो कि आज-कल की हिन्दी से कुछ पृथक्-सी प्रतीत होती है। उसे पढ़कर कभी-कभी तो पाठक को एक उलझन-सी अनुभव में आती है, और वह यथार्थ निष्कर्ष से वंचित ही रह जाता है।

हमने इसी कठिनाई का अनुभव करके, इसकी टीका वर्तमान सरल सुबोध हिन्दी में करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है और साथ ही सहज ही समझ में आ सके, इस उद्देश्य से प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या भी संयुक्त कर दी है। इस व्याख्या में श्रुतियों, उपनिषदों, शास्त्रों एवं अन्यान्य ग्रन्थों का मनन करके जहाँ आवश्यक समझा, उनके उद्धरण भी दे दिये हैं, जिससे कि विषय वस्तु को अत्यन्त सुगमता से समझा जा सके। व्याख्या के इस कार्य में हमें कविराज श्री दाऊदयाल गुप्त से जो अमूल्य सहयोग मिला है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास योग-जिज्ञासुओं और साधारण पाठकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा।

-डॉ० चमनलाल गौतम

# विषय-सूची

## प्रथम उपदेश

**द्वितीय उपदेश**

## तृतीय उपदेश



## चतुर्थ उपदेश

# हठयोग-प्रदीपिका

## प्रथम-उपदेश

## आरम्भिक वन्दनादि

**श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।**
**विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।१**

**टीका**—हठयोग विद्या का उपदेश करने वाले भगवान् श्री आदिनाथ को नमस्कार करके ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं। वह विद्या मुमुक्षु को ऊपर चढ़ाकर राजयोग में युक्त कर देती है, इसलिए नसैनी के समान है।।१।।

**व्याख्या**—आदिनाथ शिवजी का ही एक नाम है अथवा जो सबसे पूर्व हैं, उनसे पहले का कोई नहीं, इसलिए उनका नाम आदिनाथ हुआ। कुछ विद्वान् श्री आदिनाथ का अर्थ श्री (लक्ष्मी) सहित विष्णु करते हैं। वैसे शास्त्रों के अनुसार शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं हैं। विष्णु पुराण (१।२।६६) के अनुसार—

**सृष्टि स्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।**
**स संज्ञां यान्ति भगवानेक एवं जनार्दनः।।**

**अर्थात्**—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उन्हीं के नाम हैं।

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१) अर्थात्—'वह एक ही है, दो नहीं' से भी भगवान् का एक होना ही सिद्ध है। शिव पुराण में भी 'एक एवतदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन' अर्थात्

'तब (सृष्टि के आदि में) अकेला रुद्र ही था, कोई और नहीं था' कहकर उक्त मत की पुष्टि की गई।

'अधिरोहिणी' का अर्थ नसैनी या सीढ़ी है। यह हठयोग विद्या साधक को परिश्रम के बिना ही राजयोग रूपी पीठ पर चढ़ा देती है। इसलिए ऐसी विद्या को प्रकट करने वाले भगवान्, आदिनाथ को नमस्कार करना भी श्रेयस्कर है।

## श्रीगुरु को नमस्कार

**प्रणम्य श्रीगुरु नाथं स्वात्मारामेण योगिना।**
**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।।२।।**

**टीका**—उन श्री गुरु नाथ को प्रणाम है, जिन्होंने राजयोग प्राप्त कराने के लिए मुझ स्वात्माराम योगी को हठविद्या का उपदेश किया है।।२।।

**व्याख्या**—ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में मङ्गल की अपेक्षा से गुरुदेव को नमस्कार करते हैं। क्योंकि गुरुदेव के उपदेश के बिना किसीं भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं। इसीलिए गुरु को नाथ अर्थात् स्वामी कहा है। योगवासिष्ठ में कहा है—

**गुरुपदेशशास्त्रार्थै बिना चात्मा न बुध्यते।**
**एतत्संयोग सत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी।।**

**-योग वासिष्ठ ६।४१।१६**

**अर्थात्**—गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और सद्‌गुरु इन तीनों का संयोग होने पर ही आत्मज्ञान का प्रकाश होता है।

यदि गुरु की कृपा न हो तो बहुत से बढ़े हुए मन्त्र निष्फल रहते हैं, इसीलिए किसी भी मन्त्र की दीक्षा गुरुमुख से लेनी चाहिए। इसी की पुष्टि निम्न कथन से होती है।

**अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।**
**मन्त्रं गुरोः कृपा प्राप्तमेकंस्यात् सर्वसिद्धिदम्।।**

**अर्थात्**—करोड़ों मन्त्र हैं, परन्तु वे चित्त की व्याकुलता के ही कारण होते हैं (अर्थात् चित्त की व्याकुलता ही उत्पन्न करते हैं।) यदि गुरु की कृपा से एक मन्त्र भी प्राप्त हो जाय तो वह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला होता है।

इस प्रकार गुरु द्वारा सीखी हुई विद्या का ही सफल होना सिद्ध है। साधक को गुरु का उपदेश प्राप्त करके, उसी के अनुसार साधना करनी चाहिए। इस श्लोक में गुरु को प्रणाम करने का उद्देश्य भी है।

**भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम्।**
**हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः।।३**

**टीका**—अनेक मतों के गहन अन्धकार की भ्रान्ति से उबारने के लिए अपनी आत्मा में रमण करने वाले (स्वात्माराम) योगी कृपापूर्वक इस हठयोग प्रदीपिका को प्रकट करते हैं।३।

**व्याख्या**—लोक में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं। कोई एक अपने मत को श्रेष्ठ कहता है तो कोई दूसरा अपने मत की प्रशंसा करते हैं, इस कारण चंचल चित्त वाले अज्ञानी पुरुष उनके आकर्षण में पड़ कर कभी कहीं जाते हैं तो कभी कहीं। वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि यथार्थ कर्त्तव्य क्या है?

उन भ्रान्ति में पड़े हुए मनुष्यों को वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सके, इस उद्देश्य से कृपालु योगी ग्रन्थकार के उन पर कृपा के रूप में इस हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की है और यही तात्पर्य उन्होंने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है।

**हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते।**
**स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते मत्प्रसादतः।।४**

**टीका**—महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ आदि ही इस हठ विद्या को जानते हैं अथवा उनकी कृपा से स्वात्माराम योगी भी इसे जानता है।।४।।

**व्याख्या**—ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का श्रेय स्वयं को न देकर मत्स्येन्द्रनाथ आदि महान् योगी पुरुषों को ही दिया है। उसका अभिप्रायः है कि उक्त महात्माओं की प्रसन्नता प्राप्त करने पर ही उसे इस हठयोग विद्या की प्राप्ति हो सकी है। श्लोक में 'हि' शब्द इस अर्थ का बोधक है कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि योगीजन इस विद्या को विशेष रूप से जानते थे और उन विशेषज्ञों से प्राप्त विद्या में भी विशेषता होनी चाहिये।

प्राचीन ऋषि-मुनि संसार का कल्याण करना-अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसीलिए अज्ञानी पुरुषों को ज्ञान देकर उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त किया करते थे। इसी उद्देश्य से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ की रचना करना उचित समझा।

**श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः।**
**चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाविलेशयाः।।५**
**मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः।**

**कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः।।६**
**कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः।**
**कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः।।७**
**अल्लामः प्रभुदेवश्च घोड़ा चोली च टिंटिणिः।**
**भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा।।८**
**इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।**
**खंडयित्वा कालदंड ब्रह्मांडे विचरंति ते।।६**

**टीक**।—श्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरनाथ और आनन्द भैरव तथा चौरङ्गी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशयनाथ आदि सिद्ध हुए। मंथान, भैरव, कानेरी, पूज्यपाद कन्थद्रि कारंटक सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कंपाली, बिन्दुनाथ, काक-चण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली टिंटिणी, भानुकी नारदेव, खण्ड कापालिक इत्यादि हठयोग के प्रभाव से ही महासिद्ध हो गए। यह सभी काल-दण्ड का खण्डन करके उत्पत्ति मृत्यु को जीतकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं।५—६।

**व्याख्या**—श्री आदिनाथ के उपदेशानुसार अनेकानेक सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने हठयोग के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है। आदिनाथ उन सब में प्रथम हैं, जिनके द्वारा नाथ सम्प्रदाय चलाया गया। यहाँ इन नामों के वर्णन करने का उद्देश्य जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिये ही है, जिससे कि उनकी उत्कर्ष गाथा का स्मरण होते ही उसकी भी आकर्षण वृद्धि हो सके।

मत्स्येन्द्रनाथ का एक उपाख्यान सुना जाता है। वह इस

प्रकार है कि एक समय भगवान् आदिनाथ शिवजी किसी एकांत सरोवर के तट पर विराजमान थे। वहाँ पार्वतीजी ने उनसे योग-ज्ञान की जिज्ञासा की। आदिनाथ शिव उन्हें हठयोग का उपदेश करने लगे, जिसे पार्वतीजी मन लगाकर सुनने लगीं।

उस सरोवर के जल में एक मत्स्य रहता था। वह भी उस योगोपदेश को मन लगाकर सुन रहा था। कृपालु आदिनाथ जी को उसका वह श्रवण ज्ञात हो गया और उन्होंने कृपा पूर्वक उसके निकट जाकर सरोवर से जल लिया और उस मत्स्य के ऊपर सींचने लगे। भगवान् आदिनाथ जी के इस अनुग्रह को प्राप्त करके मत्स्य कृतकृत्य हो गया और उसे तुरन्त ही सिद्धि की प्राप्ति हो गई। वही मत्स्येन्द्रसिद्धि मत्स्येन्द्रनाथ हो गए।

चौरङ्गी की कथा इस प्रकार बताई जाती है कि एकबार वन में स्थित हुए चौरंगी (हाथ-पाँव विहीन) पर उनकी दृष्टि गई। उनके देखने मात्र से चौरङ्गी के हाथ-पांव लग गए। चौरंगी समझ गया कि इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं हाथ-पाँवों से युक्त हो गया और तब वह उनके चरणों में गिर कर अनुग्रह की याचना करने लगा। मत्स्येन्द्रनाथ को भी दया आ गई और उन्होंने उसे हठ विद्या का उपदेश दिया। आगे चल कर वही चौरङ्गी सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

मत्स्येन्द्रनाथ आदिनाथ जी के शिष्य थे। उनके अनेक शिष्य हुए। गोरक्षनाथ भी उन्हीं के शिष्य बताये जाते हैं। गोरक्षनाथ के नाम का कथन भी भतृहरि और गोपीचन्द्र की अन्तार्कथा की ओर संकेत करता है। गोरक्षनाथ ने राजा भर्तृहरि को योग का उपदेश दिया था और भर्तृहरि ने अपने भानजे

(बहिन के पुत्र) राजा गोपीचन्द्र को योग की ओर प्रवृत्त किया, जिससे वह भी राजपाठ का त्याग करके गोरक्षनाथ की शरण में गये।

इस प्रकार यह सभी सिद्ध हठयोग के प्रवर्त्तक भी हुए हैं। उन्होंने काल के दण्ड को काट डाला अर्थात् शरीर और प्राण को पृथक् करने वाले मृत्यु को विजय करके वे ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। इसका आशय यह है कि उन्हें सभी लोकों में इच्छानुसार जाने-आने की सामर्थ्य प्राप्त हो गई।

**अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।**
**अशेषयोगयुक्तानामधारकमठो हठः।।१०**

**टीका**—अशेष ताप से तप्त हुए पुरुषों का समाश्रय मठ रूप हठयोग और अशेष योगियों का आधार कामरूप हठयोग है।१०।

**व्याख्या**—हठयोग और कमठयोग के भेद से हठयोग दो प्रकार के माने गए हैं। इसमें सभी तापों का नाशक हठयोग और योगों का साधक कमठयोग है। अशेष ताप के कथन का संकेत त्रिताप की ओर है और ताप तीन प्रकार का है(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन तापों के कारण तप्त हुए मनुष्यों के लिए हठयोग मठस्वरूप होता है। मठ का अर्थ है घर, इससे हठयोग का उनके लिए आश्रय देने वाला समझना चाहिए। इसीलिए 'अशेषतापतप्तानां' कह कर ग्रंथकार ने उन मनुष्यों की ओर संकेत किया है, जिनके त्रितापों में से कोई एक भी शेष रह गया है। इन तापों से भी आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का माना गया है। शारीरिक ताप का तात्पर्य है रोगादि और मानसिक ताप का

अभिप्राय है मन का अशांत रहना। इनका शमन योग के आश्रय से ही सम्भव है।

योगों से सम्पन्न पुरुष का आश्रय ईश्वर है और ईश्वर का एक अवतार कमठ अर्थात् कच्छप रूप में भी हुआ है। इस लिए जो साधक योग सम्पन्न होकर भगवान् के विभिन्न स्वरूपों का ध्यान करता है, उसे अवश्य ही काम्यफल की प्राप्ति होती है। कर्मठ अर्थात् कच्छप को जगत् का आधार माना गया है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय भगवान् ने कच्छप रूप धारण करके समुद्र में धसकते गए। श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार किया है–

**विलोक्य विघ्नेशविधि तदेश्वरो**
**दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।**
**कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्**
**प्रविश्य तोय गिरिमुज्जहार।।**

**-भागवत ८।७।८**

**अर्थात्**–विघ्नेश्वर द्वारा किये हुए विघ्न को समझ कर अनन्त शक्ति और सत्य सङ्कल्प वाले भगवान् कच्छप अवतार आये।

उक्त श्लोक से अगले श्लोक में दधार पृष्ठेन स लक्ष योजन' कहकर भागवतकार ने 'भगवान् कच्छप द्वारा एक लाख योजन की पीठ बना कर उसे मन्दराचल पर्वत कर लेने को कहा है। इस प्रकार यह अन्तर्कथा कच्छप को पर्वतादि स्वरूप वाले जगत् का आधार मानकर योगयुक्त पुरुष उन्हीं भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहता है। इसी को कमठरूप हठयोग समझना चाहिए।

**हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।**
**भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।।११**

**टीका**–सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को हठ विद्या परम गोपनीय है, क्योंकि गुप्त रहने से ही यह वीर्यवती रहती है और प्रकट होने पर निर्वीर्य हो जाती है।११।

**व्याख्या**–अन्य विद्यायें चाहे प्रकट रहें अथवा गुप्त परन्तु हठयोग विद्या को परम गुप्त रखने योग्य माना गया है। सिद्धियों की इच्छा रखने वाले के लिये तो अवश्य इसे गुप्त रखना चाहिए, तभी वह वीर्यवती अर्थात् प्रभावशालिनी रह सकती है और वीर्यवती रहने से ही सिद्धि मिल सकती है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं–अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वाशित्व। इनसे शरीर का क्रमशः अणुवत् सूक्ष्म बृहदाकार, भारी, हलका कर लेना और दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श करना, कामनायें पूर्ण कर लेना आन्तरिक चक्रों पर प्रभुत्व रखना और सभी को अपने वश में कर लेना आदि सामर्थ्यों की प्राप्ति हो सकती है।

योगदर्शन के विभूतिपादन में लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन है, किसी से भूख-प्यास पर विजय और किसी से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किसी से दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि और किसी से लोकों नक्षत्रों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की सिद्धियाँ योग के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु उन सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली विद्या यदि प्रकट हो जाती है तो उनमें शक्ति का ह्रास हो जाता है और वह जो प्रभाव उत्पन्न कर सकती थी, उसे करने में समर्थ नहीं रहती।

# योग्यदेश एवं कुटी निर्माण

**सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।**
**धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते।**
**कांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना।।१२**

**टीका**—ऐसा धार्मिक देश हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो, सुभिक्ष रहता हो उसके चारों ओर धनुष प्रमाण पर्यन्त शिला, अग्नि और जल न हो। श्रेष्ठ राज्य में स्थित ऐसे स्थान में मठिका बनाकर हंठयोगी को योगाभ्यास करना चाहिए।१२।

**व्याख्या**—धार्मिक देश और श्रेष्ठ राज्यों में रहने का कथन इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि योगी को वह देश अर्थात् स्थान उपयुक्त हो सकता है जहाँ अधर्म या अपवित्रता का लेश भी न हो। क्योंकि योगाभ्यास के लिए वातावरण की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, यदि वातावरण में पवित्रता न होगी तो मन में अधर्म रहेगा, जिससे एकाग्रता सम्भव नहीं होगी जिससे साधना भी फलवती नहीं हो सकती।

सुराज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है, जिसका राजा प्रजापालक, साधु-सन्तों, योगाभ्यासियों का रक्षक और धार्मिक एवं न्यायशील हो। अधार्मिक, अन्यायी या क्रूर राजा हो तो उस राज्य में दमन, कलह, अत्याचार आदि का आधिक्य रहेगा और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि योगी को कुटिया का वातावरण भी क्षुब्ध न हो पाये। इसीलिए योग साधकों को श्रेष्ठ राज्य में रहने का निर्देश है।

उस राज्य और स्थान का निरुपद्रव रहना इसीलिए आवश्यक है कि उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में भय, शंका और आतङ्क का साम्राज्य छाया रहता है, योगाभ्यास में विघ्न उपद्रव स्वरूप सिद्ध होता है। अतः साधक को अपनी साधना के लिए निरुपद्रव प्रदेश चुनना चाहिए।

'सुभिक्ष' का अर्थ है सुकाल रहना। जिस राज्य में अन्न बहुत उत्पन्न होता हो, अनावृष्टि आदि के कारण कभी अकाल न पड़ता हो, जिससे कि योगी को शरीर-स्वार्थ आहार की प्राप्ति में सुभिक्ष हो, वहीं रहकर साधना करना श्रेयस्कर हो सकता है।

अथवा 'सुभिक्ष' का आश्रय श्रेष्ठ भिक्षा से भी है और जिस राज्य में श्रेष्ठ भिक्षा मिल सकती हो, वहीं साधक को भोजनादि की अनुकूल सुविधा हो सकती है। इसलिए जिस राज्य में बाधा उपस्थित न हो सके।

'धनुष प्रमाण' का आशय है चार हाथ परिमाण, जहाँ आसन के चारों ओर चार-चार हाथ तक शिला, जल और अग्नि न हो। इस कथन का अभिप्राय यह है कि बैठने के स्थान के चारों ओर भी इतनी स्वच्छता हो कि कोई वस्तु पड़ी न रहे। शिला अर्थात् पत्थर होने से, उठने पर ठोकर लगने का भय हो सकता है, और जल, अग्नि भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि उनसे सर्दी गर्मी से होने वाले विकारों की सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार विकारहीन वातावरण से युक्त स्थान चुनना चाहिए।

'मठिकामध्ये स्थातव्यं' अर्थात् 'मठिका बन वाले इसमें 'मठिका' का अर्थ छोटी कुटिया से है, मठ से नहीं। क्योकि मठ तो बड़ा होता है और योगी साधक को बहुत बड़ा स्थान हितकर नहीं होता। मठिका भी इसलिए बनवाने का निर्देश है कि शीत, धूप, वर्षा आदि से बचाव हो सके।

इस प्रकार योगी को श्रेष्ठ राज्य, सुन्दर स्थान, छोटी कुटी बना कर सुभिक्ष युक्त एवं निरुपद्रव स्थान में रहकर अभ्यास करना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है।

**अल्पद्वारमरं ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं।**
**सम्यग्गोमयसांद्र लिप्तममलं निःशेजँतूज्झितम्।।**
**वाह्येमंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितँ।**
**प्रोक्तं योगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः।।१३**

**टीका**—उस कुटी का द्वार छोटा हो, छिद्र और गड्डों से रहित हो उसमें बिल भी न हो उसका स्थान ऊँचा नीचा न हो, गोबर से चिकना लिपा हुआ हो, जीव-जन्तुओं से वर्जित हो, कुटी के बाहर के स्थान में एक मण्डप बना हो, जिसमें वेदी और सुन्दर कूप हो तथा प्रकार अर्थात् भित्ती से घिरा हो। योग कुटी के यह लक्षण हठयोग के अभ्यासी सिद्धों ने बताये हैं।१३।

**व्याख्या**—कुटी का द्वार छोटा रखना चाहिए। यह इसलिये कि कोई विशालकाय पशु आदि का उसमें प्रवेश न हो सके। उसमें छेद अर्थात् खिड़की या झरोखे भी न हों, अन्यथा शीतकाल में ठण्डी हवा, ग्रीष्म काल में उष्ण वायु अर्थात् लू और वर्षा ऋतु में वर्षा की बूँदों का कुटी के भीतर प्रवेश होने से साधक को कष्ट हो सकता है और अभ्यास में विघ्न पड़ सकता है।

कुटी में गड्डे हों, या ऊँचा-नीचा स्थान हो तो साधक को बैठने में असुविधा होगी, जिससे अभ्यास में चित्त का लगाना भी कठिन हो जायगा। ऊँचे-नीचे स्थान का अभिप्राय यह भी है कि स्थान अधिक ऊँचाई पर होगा तो चढ़ने में, और अधिक निचाई पर होगा तो उतरने में कष्ट होगा। परन्तु कुछ अनुभवी साधक ऊँचे-नीचे स्थान के होने में कोई दोष नहीं मानते। उनका मत है कि ऊँचे-नीचे स्थानों में साधारण मनुष्य परिश्रम के कारण कम ही पहुँच पाते हैं, इससे एकान्त बना रहता है और भीड़-भाड़ तो कभी हो ही नहीं पाती।

कुटी को गोवर से चिकना लीपना चाहिए। गोबर में कृमि हैं और इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने भी 'निःशेषजन्तूज्झितम्' कहकर 'जीव-जन्तु रहित' रखने का उपदेश दिया है।

बाह्य प्रदेश में मण्डल और बेदी बनाने के निर्देश से यज्ञ की ओर संकेत मिलता है। इसका आशय यह है कि साधक को किसी विधि-विधान के अनुसार यज्ञ या होम की अपेक्षा हो तो वह सरलता से कर सके और कूप तो अत्यन्त आवश्यक है ही क्योंकि जल की महिमा अन्न से भी अधिक है इसके बिना शरीरधारी को प्राण-धारण में भी बहुत कठिनाई होती है।यदि कुटी में ही ताजा जल मिल सके तो उससे बहुत सुविधा रहती है।

प्राकार अर्थात् परकोटा खींचना भी कम आवश्यक नहीं है। इसमें हिंसक पशुओं और क्रूर अधर्मी मनुष्यों का भय नहीं रहता। इसलिए कुटी के चारों ओर दिवार खिंचवाना अनावश्यक नहीं मान सकते।

**एवँविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः।**

**गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत्।।१४**

**टीका**—इस विधि से मठ बनाकर और सभी प्रकार की चिन्ताओं का त्याग करके साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से योग का ही अभ्यास करे।१४।

**व्याख्या**—उपर्युक्त प्रकार से मठ बनाने के पश्चात् सबसे पहला कार्य है सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करना, क्योंकि यदि किसी प्रकार की थोड़ी सी भी चिन्ता या कामना शेष रहेगी तो योगाभ्यास में चित्त नहीं लगेगा और जब चित्त न लगेगा तो ध्यान भी कभी नहीं बन सकता। इसीलिए नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा गया है 'रागद्वेष वियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकांचनः' अर्थात् 'राग-द्वेष को मनमें न आने दे और स्वर्ण, पाषाण, मृत्तिका को एक समान समझे।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलता हुआ योगाभ्यास करे। क्योंकि गुरु ही योग विधियों को ठीक प्रकार से बता सकता है। अभिप्राय यह है कि गुरु के बिना योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। योग के साधन में अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास बिना अनुभव के सिद्ध नहीं हो सकता ! इसलिए जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का उपदेश है। जो साधक वैसा नहीं करते वे अनेक प्रकार की हानि उठाते हुए प्रायः असफल ही रहते हैं।

योग के अभ्यास में प्राणजय किया जाता है, क्योंकि जिसने वायु पर विजय प्राप्त कर ली, उसने मानों सर्वस्व ही प्राप्त कर लिया। 'अल्पकाम' 'भयाद' ब्रह्म। प्राणायाम परभवेत्' (यो.चू.उ.)

अर्थात्' काम के भय से ब्रह्मा भी प्राणायाम परायण रहते हैं। इसीलिए यह कहना अयुक्त नहीं कि योग का ही अभ्यास करे। क्योंकि अभ्यास का माहात्म्य अत्यधिक है।

**अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।**
**मनः प्रशममायादि निर्वाणमवशिष्यते।।**

**-योग वासिष्ठ ५।७८।४६**

**अर्थात्**–अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो ज़ाता है और तब केवल निर्माण ही शेष रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से कुटी निर्माण करके गुरु द्वारा बतायी विधि के अनुसार योग के अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए। यही इस ग्रन्थ की शिक्षा है।

**अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।**
**जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।।१५**

**टीका**–अति भोजन, प्रयत्न, अधिक बोलना, नियमों का ग्रहण मनुष्यों का सङ्ग और चंचलता यह छः बाधाएँ योग को नष्ट करने वाली हैं।१५।

**व्याख्या**–अधिक भोजन करना निषिद्ध माना गया है, क्योंकि उससे आलस्य की वृद्धि होती है और जठरानल दीप्त न हुई तो उसका परिपाक भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इसीलिए योगशास्त्रों में मिताहार योगी योगपरायणः (यो.चू.उ.) अर्थात् योगी को ब्रह्मचारी, मिताहारी और योग परायण रहना चाहिए।'

'प्रयास' का अर्थ है प्रयत्न। जिस कार्य में अनेक प्रयत्न करना पड़े उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि योगाचार्यों

ने वेदाभ्यास से भिन्न परिश्रम करना प्रशस्त नहीं माना है और यह ठीक भी है। जब वह सभीं चिन्ताओं और कामनाओं का ही परित्याग कर चुका तब उसके लिए योग-भिन्न परिश्रम की ही अपेक्षा क्यों रहनी चाहिए? इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने प्रयास का वर्णन किया है।

प्रजल्प का अर्थ है बकवाद। अधिक बोलना प्रजल्प ही है। उससे द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध अहंभाव आदि की वृद्धि होती है, क्योंकि वाद विवाद में किसी से अपनी निन्दा के बचन सुनने से उक्त भाव की सम्भावना स्वाभाविक है और इसी लिए योग, शास्त्रों में साधक को जनसंग विवर्जित होने का उपदेश दिया गया है और यहाँ भी 'जनसंगश्च लौल्य च, कहकर मनुष्यों का संग न रखने का तो निर्देश है ही, साथ ही मन की चंचलता को भी नष्ट करने का निर्देश निहित है।

'नियमग्रह' का निषेध करके ग्रन्थकार ने योगी को नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया है। उसके अनुसार योगाभ्यासी को किसी प्रकार का नियम पालन करने की आवश्यकता नहीं है। प्रातः काल ठण्डे जल से स्नान, रात्रि में ही आहार अथवा फल का आहार करने आदि का भी उसके लिए कोई नियम नहीं है। क्योंकि योग मार्ग में तो प्राणवायु का निरोध ही सर्वोपरि क्रिया है। योगी का तो वही यम, नियम आदि सभी कुछ है। इसलिए हठयोग के अनेक विद्वानों ने योग के आठ अंगों के स्थान पर छः अंग ही माने हैं, जिसमें यम नियमों को छोड़ दिया है।

इस प्रकार योग-साधक को मन अत्याहार आदि छः कर्मों को प्रति बन्धक मानकर योग नष्ट करने वाला माना है। क्योंकि

इनसे कामादि विकारों की उत्पत्ति या वृद्धि होती है। ग्रन्थकार का अभिप्राय भी इनके त्याग का उपदेश करते हुए इनका दोष-दर्शन करना ही है। इसलिए साधक का कर्तव्य है कि वह छहों कर्मों का सर्वथा त्याग करने में ही कल्याण समझे।

**उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च निश्चयात्।**
**जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योग प्रसिद्ध्यति।।१६**

**टीका**—उत्साह साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चल और जन-सङ्ग का परित्याग, इन छः के द्वारा योग की सिद्धि होती है।१६।

**व्याख्या**—उद्यम रूप उत्साह के बिना प्रवृति नहीं हो सकती, इसलिए जिज्ञासु के चित्त में योग के लिए कौन उत्साह साध्य है, और कौन-सा असाध्य? इस पर विचार करके योग की प्रवृत्ति रूपी साहस के साथ धैर्य की अपेक्षा होती है। क्योंकि साधक में धैर्य होगा तभी वह कठिन योग-साधना में लगा रह सकता है। योग की सिद्धि कोई ऐसी वस्तु तो नहीं जो विचार करते ही सिद्धि हो जाय, उसमें तो दीर्घकालीन अभ्यास करना होता है और वही साधक सफल होता है जो धैर्यपूर्वक उसमें लगा रहे, अन्यथा धैर्य के नष्ट होते ही चित्त के न लगने से साधना ही समाप्त हो जाती है।

धैर्य का अर्थ खेद का अभाव भी है जो साधक खेद रहित रूप से सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ दृढ़तापूर्वक लगा रहे, वह धैर्य ही साधक को सिद्ध बना देता है। इसलिये सिद्धि की आकाँक्षा वाले साधक को धैर्य पूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

तत्व ज्ञान क्या है? विषय मृग तृष्णा के जल के समान मिथ्या है, आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है, जो जीव है वही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है यही ज्ञान का रूप तत्व ज्ञान है। जब ऐसा ज्ञान हो जाता है, तभी साधक अपने मोक्ष के हेतु योगाभ्यास में लगा रह सकता है। ईशावास्योपनिषत् में कहा है—

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदाभयँ्सह।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।**

अर्थात्-जो मनुष्य विद्यारूप ज्ञान तत्व और अविद्यारूप कर्म तत्व को साथ-साथ ही जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपयोग करता है।

निश्चय का अर्थ है विश्वास। शास्त्र और गुरु के वाक्यों में श्रद्धा और विश्वास का होने से ही, अभ्यास की सिद्धि हो सकती है। जिस कार्य में अविश्वास या अश्रद्धा हो तो उसकी सफलता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिए यदि विश्वास रूप निश्चित हो तभी योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

योगी को जन-सङ्ग का परित्याग अत्यावश्यक है। पहले भी कह चुके हैं। इसीलिए योगाभ्यासी को एकाकी रहना श्रेयस्कर बताया गया है।

इस प्रकार उक्त छहों के द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र हो सकती है।

# यम-नियम वर्णन

**"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।**
**दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमाः दश।।१७**
**तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।**
**सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।**
**नियमा दशसंप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।।१८**

**टीका**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच यह दश यम हैं तथा तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान ईश्वर का पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, लज्जा, बुद्धि, तप और होम यह दश नियम हैं।१७—१८।

**व्याख्या**—अनेक विद्वानों के मत में यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं, परन्तु साधक के लिए यम-नियमों का होना अनपेक्षित न होने से इनकी व्यावहारिकता अमान्य नहीं हैं। बहुत से सिद्ध योग के आठ अङ्ग मानते हैं, उनमें यम, नियम दोनों अङ्गों का प्रारम्भ में ही उल्लेख है, परन्तु जो षडांग योग को मानते हैं, वह यम, नियम को योग के अङ्गों में नहीं गिनते।

महर्षि पतंजलि ने यम-नियमों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः' और जाति देशकालसमयानवाच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम्' (यो.द.२।३०—३१) अर्थात् 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच यम, एवं 'जाति, देश, काल समय में आवद्ध न होकर (इन नियमों का पालन करना महाव्रत है)

शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिनियमाः (यो.द२।३२) अर्थात् 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की शरण लेना यह नियम हैं। इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन में बहुत-से सूक्त-यम नियमों को समझाने के लिए लिखे हैं अतएव यम-नियमों की आवश्यकता को अमान्य नहीं कर सकते।

**हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।**
**कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्।।१६**

**टीका**—आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है, इसलिए पहले आसन को ही कहते हैं, आसन करने से साधक को स्थैर्य, आरोग्य और अंग लाघवत्व की प्राप्ति होती है।१६।

**व्याख्या**—योग के जो अङ्ग बताये हैं उनमें आसन प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसन्धान, प्रत्याहार आदि अङ्गों में आसन प्रथम अङ्ग है। इसलिए ग्रन्थकार ने उसका सबसे पहले वर्णन किया है। आसन शरीर और मन चंचलता को नष्ट करने वाला होता है इसी से उसे स्थिरता रखने वाला कहा है।

आसन का साधन करने से साधक नीरोग रहता है कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है। योग-साधन में साधक का लाघवादि विभिन्न सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है। अङ्गों के लाघव से तमोगुण का विकार भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार आसन के द्वारा चित्त विक्षेप कारक त्रिगुणात्मक विकारों का शमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है तथा भूख, प्यास, रोग आदि की भी निवृत्ति होती हैं। ग्रन्थकार ने इस योगाभ्यास का प्रारम्भिक अङ्ग मानकर सर्वप्रथम इसका वर्णन किया है।

# आसनादि कथन

**वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः।**
**अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया।।२०**

**टीका**—वसिष्ठ आदि मुनियों और मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने जिन आसनों को अंगीकार किया है, उनमें से कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन किया जाता है।२०।

**व्याख्या**—मुनिभि का अर्थ है मनन करने वाले मुनियों में वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ हुए हैं और योगियों में श्रेष्ठ हुए हैं मत्स्यनाथ आदि। जिनके नाम पहले कह चुके हैं। उन मुनियों और योगियों ने असंख्य आसनों का वर्णन किया है। भगवान् आदिनाथ शिव ने तो चौरासी लाख आसन कहे थे। परन्तु उनमें चौरासी आसनों का ही प्रमुख रूप से चयन किया गया।

तत्पश्चात् विद्वानों ने देखा कि उन चौरासी आसनों में भी अनेक आसन कठिन और कष्ट साध्य हैं, साधारण साधक उन्हें बहुत प्रयत्नपूर्वक भी करने में समर्थ नहीं हो सकता तो उन्होंने उनमें से जो भी अधिक प्रमुख सरल और सुसाध्य प्रतीत हुए, उनका चयन किया और जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रकट कर दिया। यहाँ उन्हीं आसनों पर ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है

मुनियों और योगियों कहकर वेदवेत्ताओं की दो श्रेणियाँ यहाँ प्रमुख रूप से बताई हैं। इसका आशय यह समझना चाहिए कि मुनियों का मनन अर्थात् अध्ययन अधिक था और योगियों को अभ्यास की अधिकता थी। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वसिष्ठादि में कुछ न्यूनता थी या मत्स्येन्द्रादि में कुछ

विशेषता। अनेक विद्वानों का मत तो यह है कि वसिष्ठादि मुनि योगाभ्यास में तो सिद्ध थे ही, उनकी मनन क्षमता भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, जिसे विशेषता ही कह सकते हैं।

# स्वास्तिक आसन

**जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।**
**ऋजुकायः समासीनः स्वास्तिकं तत्प्रचक्षते।।२१**

**टीका**—जानु और जंघाओं के मध्य में सम्यक् प्रकार से पाँवों के तलुए लगाकर समान अवस्था में बैठें, वह स्वास्तिक आसन कहलाता है।२१।

**व्याख्या**—पाँवों की एड़ियों को घुटनों और जंघाओं के मध्य लगाकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है। शाँडिल्योपनिषत् में भी इस आसन का यथावत् वर्णन किया है, इसलिए उसका पुनर्कथन अनावश्यक है।

# गोमुख आसन

**सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।**
**दक्षिणेऽपि तथा स्वयं गोमुखं गोमुखाकृति।।२२**

**टीका**—कटि के बाँयी ओर दाँया गुल्फ (टकना) और दाँये भाग में बाँए टखने को लगाकर आसन करने से जो गोमुख के समान आकृति हो जाती है, उसे गोमुखासन कहते हैं।।२२।।

**व्याख्या**—यह स्पष्ट रूप से इस प्रकार है कि पीठ के दाँयी ओर दाँया गुल्फ और बाँयी ओर बाँया गुल्फ जोड़कर गोमुख के समान बैठना ही गोमुख आसन है। गोमुखासन का सीधा-सीधा

अर्थ है गौ के मुख के समान आकार बनाकर बैठना।

यद्यपि यह आसन बहुत साधारण है, परन्तु किसी सद्गुरु के निर्देशन बिना इसका सिद्ध होना कठिन ही है। इनका अभ्यास बार-बार करने से ही इसमें सफलता मिल सकती है।

यह आसन स्नायुओं की निर्बलता, गड़बड़ी, वातरोगादि को दूर करने में बहुत उपयोगी माना जाता है।

# वीरासन

**एकं पाद तथैवस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम्।**
**इतरस्मिस्मथा चोरु वीरासनमितीरितम्।।२३**

**टीका**—अब वीरासन का वर्णन करते हैं कि एक पाँव बाँयी जाँघ पर और दूसरा पाँव दाँयी जाँघ पर रखकर बैठने से वीरासन होता है।२३।

**व्याख्या**—वीरासन का अर्थ है वीरों के समान बैठना। यह आसन बहुत साधारण होता हुआ भी किसी जानकार से न जान लिया जाय जब तक ठीक प्रकार से नहीं बन पाता।

# कूर्मासन

**गुदं निरुद्धय गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमण सयाहितः।**
**कूर्मासनं भवदेतदिति योगविदो विदुः।।२४**

**टीका**—दोनों टखनों से गुह्य प्रदेश को विपरीत क्रम से रोककर समाहित रूप से बैठने पर योगवेत्ताओं के कथनानुसार कूर्मासन होता है।।२४।।

**व्याख्या**–टखनों को एक-दूसरे के विपरीत क्रम से गुदा पर लगाने से यह आसन बनता है। इसमें साधक की कछुए जैसी आकृति बनानी होती है। जो कि शरीर ग्रीवा और सिर को सीधा रखने से हो पाती है।

# कुक्कुटासन

**पद्मासनं तु संस्थाप्यां जानूर्वोरंतरे करौ।**
**निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम्।।२५**

**टीका**–पद्मासन लगाकर जंघाओं के मध्य भाग में दोनों हाथों को लगा कर तथा उन हाथों को पृथ्वी में टिकाकर आकाश में स्थित रहने से कुक्कुटासन होता है।२५।

**व्याख्या**–इसे लगाने के लिए प्रथम पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। साधक अपने हाथों का जोर धरती पर डालता हुआ जंघाओं की दरारों में लगाकर हथेलियों को भूमि पर टिका कर शरीर को कमल की आकृति में भूमि से ऊँचा उठावें। इस आसन की सिद्धि मुर्गे का आकार बनाकर बैठने से हो जाती है।

यह आसन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक हितकर है। इसे बालक भी घर पर रह कर आसानी से लगा सकते हैं। इसके अभ्यास से पहिले पद्मासन का अभ्यास कर लिया जाय तो यह और सरल हो जाता है।

# उत्तान कूर्मासन

कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां सन्ध्य कन्धराम।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम्।।२६

टीका–उक्त कुक्कुटासन का बन्धन लगाकर ग्रीवा को दोनों भुजाओं से बाँध ले और कछुए के समान सीधा हो जाए तो यह उत्तान कूर्मासन हो जाता है।

व्याख्या–अपने पाँवों का बन्धन कुक्कुटासन के समान लगाकर अपने कन्धों को हाथों से पकड़ ले और तब अपने को कछुए के समान पृथ्वी पर फैलावे। इस प्रकार उत्तान कूर्मासन हो जाता है। बालक भी इसे सरलता से कर सकते हैं।

# धनुरासन

पादांगुष्ठौ पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते।।२७

टीका–दोनों पाँवों के अँगूठों को हाथों से ग्रहण करके धनुष के समान कान तक खींचे, वह धनुरासन कहलाता है।२७।

व्याख्या–धनुरासन का अभिप्राय है धनुष जैसा आकार बना लेना। इस आसन से भी शरीर लचीला होता है और अस्थियाँ दृढ़ हो जाती हैं। यह मस्तिष्क को नवीन स्फूर्ति देने वाला होने के कारण शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि करता है।

# मत्स्येन्द्रासन

**वामोरुमूलार्पितदक्षपादं**
**जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम्।**
**प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः**
**श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात्।।२८**

**टीका**—वामोरु मूल में दक्षिण पाँव को रखकर वाम पांव को जानु से बाहर ले जाकर हाथ से लपेट कर पकड़ ले और फिर वाम भाग की ओर से पृष्ठ भाग की ओर मुख कर जिस स्थिति में टिके उसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं। यह मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है।२८।

**व्याख्या**—योगासनों में यह आसन बहुत कठिन है। मत्स्येन्द्रनाथ पहले मत्स्य थे, फिर आदिनाथ शिव की कृपा से ही योगी बने थे। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्ण स्वभावानुसार इस आसन की कल्पना की थी।

घेरण्ड सहिता में इस आसन का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है—

**उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः।**
**निम्नांगवामपादं हि दक्षजानूपरिन्यसेत्।।**
**तत्रयाम्यं कूपरं च याम्ये करे च वक्त्रकम्।**
**ध्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्र मुच्यते।।**

**अर्थात्**—उदर को पीत के समान सरल और स्वाभाविक रखकर तथा बाँए पाँव को झुका कर दाँयी जाँघ पर रखे। उस

पर दाँयी कुहनी रख ले दृष्टि को भौहों के मध्य में स्थिर करे।

**मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्ति**
**प्रचंडरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम्।**
**अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं**
**चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम्।।२६**

**टीका**—मत्स्येन्द्र पीठ की आकृति वाला यह आसन जठराग्नि प्रदीप्त करता और प्रचण्ड रोगों के खण्डनार्थ अस्त्र के समान होता है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और यह पुरुषों को चन्द्रमा की स्थिरता प्रदान करता है।२६।

**व्याख्या**—यह आसन मन्दाग्नि और उससे उत्पन्न रोगों को नष्ट करने वाला है। इससे चन्द्रमा द्वारा स्रवते हुए रस की स्थिरता होती है। परन्तु अधिक प्रयत्न से ही सिद्ध किया जा सकता है।

# पश्चिमोत्तान आसन

**प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वाः।**
**जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदंपश्चिमोत्तानमाहुः।।३०**

**टीका**—दोनों पांवों को दण्ड के समान धरती पर प्रसार कर दोनों पाँवों के अग्रभागों को दोनों ही हाथों से ग्रहण करके जानुओं पर ललाट देश को स्थापित करें। इस प्रकार की स्थिति को पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं।।३०।।

**व्याख्या**—यह आसन सरल और श्रेष्ठ है, इसका अभ्यास साधारण पुरुष भी कर सकते हैं। अन्य ग्रन्थ में इसका वर्णन

इस प्रकार मिलता है—

**विस्तीर्य पादयुगलं परस्परसंयुतम्।**
**स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत्।।**
**देहावसादनाशनं पश्चिमोत्तानं संज्ञकम्।**
**य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः।।**

**अर्थात्**—दोनों पाँवों को पृथक्-पृथक् फैला कर उनके अँगूठों का हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़ ले और फिर शिर पर जानुओं को रखले। यह शरीर का आलस्य नष्ट करने वाला पश्चिमोत्तान संज्ञक है। बुद्धिमान पुरुष को इस श्रेष्ठ आसन का साधन करना चाहिए।

**इति पश्चिमोत्तानमासनाग्र्यं पवनं**
**पश्चिमवाहिनं करोति।**
**उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे**
**कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्।।३१**

**टीका**—यह सब आसनों में प्रमुख पश्चिमोत्तान आसन प्राणवायु को पश्चिमवाहिनी कर देता है और जठराग्नि को प्रकट कर उदरस्थ कृशता और आरोग्यता को करता है।३१।

**व्याख्या**—यह आसन प्रमुख माना गया है। इससे दुबला-पतलापन दूर होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। येनशीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौधहारिणीं अर्थात् उसके द्वारा दुःख रोगादि नष्ट करने वाले प्राणवायु की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर होने के कारण साधक को अवश्य करना चाहिये।

# मयूरासन

**धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कर्पूरस्थापितनाभिपार्श्वः।**
**उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम्।।३२**

**टीका**–दोनों हाथों से पृथिवी का सहारा लेकर और मणि बन्धों के ऊपर नाभि के पार्श्वद्वय के भागों को स्थापित करे। इस प्रकार यह दण्ड के समान उच्च आसन होता है, इसे मयूरासन कहते हैं।३२।

**व्याख्या**–यह मोर की आकृति जैसा बनाया जाता है जिस प्रकार मोर अपने पतले पाँवों पर शरीर का पूर्ण भार संभालता है, उसी प्रकार साधक को अपने शरीर का भार अपने पाँवों के तलुओं पर डालना होता है।

इस ग्रन्थ के वर्णन में घेरण्ड संहिता के वर्णन से स्वल्प हेर-फेर है, फिर भी उसमें अधिक स्पष्टता व्यक्त होती है। उन्होंने कहा है–

**धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याँ तत्कूर्परि स्थापित नाभिपार्श्वम्।**
**उच्चासनो दण्डवदुत्थितः मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम्।।**

**अर्थात्**–हाथों की हथेलियों को पृथिवी में टिकाकर और दोनों कुहनियों को दोनों पार्श्वों को योजित करे तथा दोनों पाँवों को डंडे के समान पीछे की ओर खड़ा करे तो यह मयूरासन होगा।

**हरित सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-**
**नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।**

**बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं**
**जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम्।।३३**

**टीका**—यह आसन गुल्म, उदररोगादि सभी रोगों को नष्ट करता है तथा दोषों को भी दूर कर देता है। अधिक खाये हु अन्न को भस्म करने और जठराग्नि प्रदीप्त करने में काल कू समान है।३३।

**व्याख्या**—इस आसन के करने से उदर के सब रोग जैसे उदर शूल, जलोदर, प्लीहा आदि एवं वात पित्त, कफ आदि विकल होने से उत्पन्न दोषादि सब दूर हो जाते हैं। अधि भोजन कर लेने से अजीर्ण आदि की प्राप्ति हो सकती है परन्तु इस आसन के करने से वह अन्न शीघ्र ही भस्म हो जात है। इस प्रकार यह आसन उदर ठीक रखने के लिए भी करन चाहिए।

# शवासन

**उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम्।**
**शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम्।।३४**

**टीका**—पीठ को शव के समान धरती पर लगाकर सीधा जाय यह शवासन है। इससे श्रम का शमन होता है और चि को विश्राम मिलता है।३४।

**व्याख्या**—इसका आकार उस प्रकार का होता है, जि प्रकार कोई मुर्दा सा रहा हो। इस आसन के अभ्यास से स प्रकार का परिश्रम दूर हो जाता है और चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है।

**चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।**
**तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्।।३५**

**टीका**—शिवजी ने चौरासी आसनों का कथन किया है उनमें चार आसन सारभूत हैं, उन्हें कहता हूँ।३५।

**व्याख्या**—शिवजी ने चौरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चौरासी को उपयोगी पाया और फिर उन चौरासी में भी जब अधिक उपयोगिता और सरलता खोजी गई तो उनमें चार आसन ऐसे पाये गये जो सब में सारभूत थे। घेरण्ड संहिता में कहा है—

**आसनानि समस्तानि यावन्तो जीव जन्तवः।**
**चतुरशीति लक्षाणि शिवेनाभिहितानि च।।**

**अर्थात्**—संसार में जितने जीव-जन्तु हैं उतने ही आसन हैं। इस प्रकार शिवजी ने चौरासी लाख आसन बताये हैं।

उन चौरासी लाख में से 'षोडशोनंशतं कृतम्' (घे.स.) अर्थात् 'चौरासी श्रेष्ठ' हैं। उनमें से भी ग्रन्थकार ने निम्न चार को सारभूत कहा है।

## सर्वश्रेष्ठ चार आसन

**सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।**
**श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेन्सिद्धासने सदा।।३६**

**टीका**—यह चार आसन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन। इनमें भी जो सिद्धासन है उसमें योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है।३६।

व्याख्या–उक्त चौरासी आसनों में जो चार आसन कहें हैं
उनमें भी सिद्धासन को और भी श्रेष्ठ माना है और साथ ही यह
भी संकेत किया है कि इसमें योगी सुखपूर्वक स्थित हो सकता
है। अब यह आसन का स्वरूप वर्णन करते हैं।

# सिद्धासन

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽजलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।।३७

टीका–योनि स्थान से बाँये पाँव की एड़ी को मिलावे और
दाँये पांव को लिंगेन्द्रिय के ऊपर से दृढ़ता से रखें तथा हृदय
के निकट ठोड़ी को ठीक से रखे। ऐसा निश्चल योगी अपनी
एक रस दृष्टि से भौंहों के मध्य में देखें। यह अभ्यास मोक्ष-मार्ग
में लगे हुए कपाट को खोलने वाला सिद्धासन कहलाता है।३७

व्याख्या–यह आसन बहुत सरल और कष्ट रहित है
इनका वर्णन अन्यत्र इस प्रकार मिलता है–

योनिसंपीड्यप्रयत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपति पादमूलं विन्यसेद् योगवित्सदा।।
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः।
विशेदवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः।
एतत् सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धनांच शुभ प्रदम्।।

अर्थात्–प्रयत्नपूर्वक योनि स्थान का एक एड़ी से सपीड

करे और दूसरी ऐड़ी को मेढ्र पर रख ले। तथा भौहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे। इस प्रकार उद्वेग-रहित, सरल सीधा रहकर स्थित हो, यह सिद्धों को शुभदायक सिद्धासन है।

**मेढ्रादुपरि विन्यस्य स्वयं गुल्फ तथोपरि।**
**गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्।।३८**

**टीका**–पेडू के ऊपरी भाग में बाँई एड़ी को रखे और बाँए पाँव के ऊपर दाँये टखने को रखकर बैठे तो यह सिद्धासन है।३८।

**व्याख्या**–यह सिद्धासन मत्स्येन्द्रनाथ के मत से भिन्न मत का है। ग्रन्थकार ने यहाँ इसका भी वर्णन करना उचित समझा है। आसन वर्णन के इन प्रकारों में समानता है, परन्तु साधकों को इनका समन्वय करके, जिस स्थिति में सुविधा हो, उसी स्थिति में बैठना चाहिए;

**एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः।**
**मुक्तासनं वदत्येकं प्राहुर्गुप्तासनं परे।।३६**

**टीका**–इस सिद्धासन को ही कोई विद्वान् वज्रासन भी कहते हैं। किसी के मत में यह मुक्तासन है और किसी के कथनानुसार गुप्तासन भी है।३६।

**व्याख्या**–यहाँ इस एक आसन के ही चार नाम कहे हैं–सिद्धासन, वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन। परन्तु अन्य विद्वानों ने इन चारों को पृथक्-पृथक् माना है। घेरण्ड-संहिता में उनका भेद इस प्रकार बताया है–

**जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ।**

**वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम्।।**

**वायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।**

**शिरोग्रीवासमं कार्य मुक्तासनं तु सिद्धिदम्।।**

**जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।**

**पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः।।**

**अर्थात्**—दोनों जाँघों को वज्रवत् कठोर करके दोनों पाँवों को गुदा के दोनों ओर लगावे तो योगियों को सिद्धि देने वाला वज्रासन होता है। गुदमूल में बाँयी एड़ी लगाकर उस पर दांयी एड़ी रखले और शिर तथा ग्रीवा को समान भाव से रखकर शरीर को सीधा रखकर बैठे। यह सिद्धिप्रद मुक्तासन है। दोनों घुटनों के मध्य में दोनों पाँवों को गुप्त भाव से रखकर गुह्य प्रदेश को पाँवों में ही रख लें, यह गुप्तासन कहलाता है।

# सिद्धासन-प्रशंसा

**यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव।**

**मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः।।४०**

**चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।**

**द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाडीनां मलशोधनम्।।४१**

**आत्मध्याय मिताहारो यावद्द्वादशवत्सरम्।**

**सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्।।४२**

**टीका**—जैसे यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा मुख्य है, वैसे ही सब आसनों में सिद्धासन को ही विद्वान् सिद्धा ने प्रमुख बताया है। इसलिए चौरासी आसनों में मुख्य सिद्धों सन

का सदा अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा बहत्तर हजार नाड़ियों का मलशोधन होता है। आत्मा का ध्यान और मिताहार करता हुआ साधक यदि बारह वर्ष पर्यन्त सिद्धासन का अभ्यास करता है तो योग सिद्धि प्राप्त हो जाती है ।४०–४२।

**टीका**–दश यमों में मिताहार और दश नियमों में अहिंसा को अधिक श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार सब आसनों में सिद्धासन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनका इस आसन के द्वारा शोधन होता है। सिद्धासन के अभ्यास काल में साधक को मिताहारी रहना चाहिए और आसन में सुखपूर्वक बैठकर आत्मा के ध्यान में लीन हो जाना चाहिए श्लोक में 'आत्माध्यायी' कहकर इसी को स्पष्ट किया है और शिक्षा दी है कि आत्मा का ध्यान योग साधन का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न किसी अन्य के ध्यान का पूर्णतया निषेध सिद्ध होता है।

**किमन्यैर्बहुभि पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति।**
**प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके।।४३**
**उत्पद्यते निरासायात्त्वयमेवोन्मनी कला।**
**तथैकस्मिन्नेव दृढ़े सिद्धे सिद्धासने सति।**
**बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते।।४४**
**नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।**
**न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लय।।४५**

**टीका**–जब सिद्धासन ही सिद्ध हो जाता है, तब अन्य अनेक आसनों के करने का क्या प्रयोजन है? इसमें प्राणवायु

को सावधानी से संयत कर केवल कुम्भक सिद्ध करना चाहिए। इसके प्रभाव से चन्द्रकला सदृश उन्मनी कला परिश्रम के बिना ही सिद्ध हो जाती है तथा सिद्धासन के सिद्ध होते ही तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। सिद्धासन के समान कोई आसन, केवल कुम्भक के समान कोई कुम्भक, खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा और नाद के समान कोई लय नहीं है।४३–४५।

**व्याख्या**–योगाभ्यासी यदि सिद्धासन को सिद्ध कर ले तो फिर उसे किसी अन्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस आसन के साथ केवल कुम्भक करना अत्यन्त प्रभावकारी होता है। इसके सिद्ध होने पर उन्मनी कला की अनायास सिद्धि हो जाती है तथा मूलबन्ध बन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध यह तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध होते हैं। बन्धसिद्धि में जो पार्ष्णि-मार्ग से लिंग को दबाकर गुदा का संकोच करने आदि का विधान है, उसके करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए इस आसन को लगावे तथा दाँये पार्श्व में बाँया टखना रखे समान नहीं माना है।

बन्धत्रय की विशेषता प्रकट करते हुए योगचूड़ामण्युपनिषत् में कहा है–

**महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्ड्याणं च जलन्धरम्।**
**मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनम्।।**

**अर्थात्**–जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, ओड्डियाण बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्ति का पात्र होता है।

# पद्मासन कथन

**वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा।**
**दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।।**
**अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-**
**देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनौं पद्मासनं प्रोच्यते।।४६**

**टीका**–बाँयी जँघा पर दाँये पाँव को ठीक प्रकार सीधा रखकर तथा वैसे ही दाँये पाँव को जाँघ के ऊपर भली प्रकार रखे और पृष्ठ भाग की विधि से दोनों पाँवों के अँगूठों को हाथों से पकड़ ले और फिर ठोड़ी को हृदय पर रख कर दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर स्थित करे। यह रोगों को नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है।४६।

**व्याख्या**–इसकी स्थिति इस प्रकार है कि पीठ पर दाँया हाथ ले जाकर बाँयी जँघा पर स्थित दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ें और वैसे ही बांये हाथ को पीठ की ओर से ले जाकर बाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ना चाहिए। और ठोड़ी को हृदय के निकट चार अँगुल की दूरी पर रखकर नाक के अग्र भाग पर दृष्टि जमा ले। यह आसन ग्रन्थकार ने अपने मतानुसार कहा है। अगले श्लोक में मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा वर्णित पद्मासन को कहेंगे।

**उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः।**
**ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशी।।४७**
**नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया।**

**उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः।।४८**

**इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।**

**दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि।।४९**

**टीका**–सीधे फैलाये हुए पाँवों को जंघाओं पर प्रयत्नपूर्वक स्थापित करके और जंघाओं के मध्य में हाथों को सीधे रखकर उपर्युक्त के समान दृष्टि को अपने नासाग्र में स्थिर रूप से लगावे और दाढ़ की जड़ को जिह्वा के द्वारा ऊपर स्तम्भित करे तथा ठोड़ी को हृदय पर रख ले। फिर वायु को धीरे-धीरे उठावे। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहलाता है। यद्यपि यह दुर्लभ है तो भी बुद्धिमान योगी किसी प्रकार प्राप्त कर सकता है।४७–४९।

**व्याख्या**–मत्स्येन्द्रनाथ ने पद्मासन की जो विधि बताई है, वह उनके अनुभव सिद्ध होने के कारण अव्यवहारिक नहीं हो सकती। इसलिए साधक को पद्मासन की विभिन्न विधियों का अध्ययन करके उनमें जो सरल प्रतीत हो उसका प्रयोग करना चाहिये। योगकुन्डल्युपनिषत् में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है–

**ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा।**

**पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापं प्रणाशनम्।।**

**अर्थात्**–दोनों जंघाओं पर एक-दूसरे के पैर के तुलुओं को सीधे रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों को नष्ट करने वाला है।

यह है पद्मासन का सीधा और सरल वर्णन। श्लोक में वायु के उत्थापन की जो बात कही है, उसी क्रिया से मूलबन्ध की सिद्धि होती है। इससे यह मान्यता होती है कि मूलबन्ध की सिद्धि भी इससे स्वतः हो जाती है।

इन आसन के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। यह दुर्लभ होते हुए भी प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जाय तो सरल और सुखद हो जाता है। परन्तु इसकी यथार्थ रूप से सिद्धि तो गुरु की कृपा से हो सकती है। उनके निकट बैठकर उन्हीं के निर्देशन में इसका अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

**कृत्वासंपुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनं**
**गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि।**
**वारम्वारमपानमर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं**
**न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः।।५०**

**टीका**—दोनों हाथों को सम्पुटित कर दृढ़ रीति से पद्मासन बाँधे और ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक हृदय के समीप करके चित्त में बारम्बार आत्मा का ध्यान करे और अपान वायु को ऊपर खींचता हुआ पूरक द्वारा खींचे हुए प्राण वायु को नीचे करे। इससे मनुष्य शक्ति के प्रबुद्ध होने पर अतुल ज्ञान को प्राप्त होता है।५०।

**व्याख्या**—पद्मासन के साथ की अन्य क्रिया और फल का भी इस श्लोक में संकेत मिलता है। इसके अनुसार पद्मासन को दृढ़ता से बांधकर ठोड़ी को हृदय के समीप करे और हृदय में आत्मा का ध्यान करता हुआ अपान को ऊपर की ओर खींचे

और प्राण को नीचे की ओर ले जाय तो इससे प्राण-अपान का मिलन होता है। इस मेलन को सिद्धि होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है, जो सर्वोत्तम ज्ञान की प्राप्ति कराने वाली है।

परन्तु उक्त क्रिया कोई सरल कार्य नहीं है, इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से कर लेना आवश्यक है। योगाभ्यास से पूर्व उसकी जानकारी न करके केवल अभ्यास में लग जाना उचित नहीं है। क्योंकि क्रिया में भूल होने से किसी भी प्रकार की हानि हो सकती है।

**पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम्।**
**मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः।।५१**

**टीका**—पद्मासन में स्थित हुआ योगी नाड़ी द्वार से पूरित किये गये वायु को स्थिर करे वह निःसन्देह मुक्त ही है।५१।

**व्याख्या**—पूरक से मध्य में किये गये वायु को सुषुम्ना मार्ग के द्वारा शिर पर्यन्त पहुँचा कर स्थिर करने वाला योगी मुक्त हो जाता है। यह कुण्डलिनी जागरण और उसके पश्चात् षट्चक्र भेदन आदि की क्रिया का संकेत है, जिससे कि वायु के साथ कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में ज़ा पहुँचती है। अवश्य उस के द्वारा मोक्ष प्राप्ति हो जाती है और फिर योगाभ्यासी पुरुष के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। योगचूड़ामण्युपनिषत् में इसके विषय में कहा है—

**प्रबुद्धावह्नियोगेन मनसा मरुता सह।**
**सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।।**
**उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुंचिकया गृहम्।**
**कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।**

**अर्थात्**—अग्नियोग से जाग्रत हुई कुण्डलिनी मन-प्राण के सहित सुषुम्ना मार्ग से सुई के समान ऊपर की ओर चढ़ती है। जैसे कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी को कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार खोल लेना चाहिये।

# सिंहासन कथन

**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवस्यः पार्श्वयोः क्षिपेत्।**
**दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके।।५२**
**हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलोः संप्रसार्य च।**
**व्यात्तवक्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः।।५३**
**सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः।**
**बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम्।।५४**

**टीका**—अण्डकोशों के नीचे सींवनी पर नाड़ी के दोनों पार्श्वों में टखनों को लगावे तथा दांये पार्श्व में बांया टखना और बांये पार्श्व में दाँया टखना लगाना चाहिए। जानुओं के ऊपर हाथों के तलवे ठीक प्रकार से लगावे और हाथों की अँगुलियों को फैलाकर मुख को भी फैलाले और नासाग्र में दृष्टि लगा ले। योगियों में श्रेष्ठ साधक द्वारा पूजित यह सिंहासन तीनों बंधों का संधान करने वाला और उत्तम माना गया है।५२–५४।

**व्याख्या**–सिंहासन से भी तीनों बन्धों की सिद्धि हो सकती है। इसमें वृषणों के नीचे जो सीवन है उसके दोनों ओर टखनों को व्युत्क्रम से लगाया जाता है इसके विषय में त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार कहा है–

**सीवनी गुल्फदेशेभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु।**
**प्रसार्य जानुनोहस्तावासनं सिंहरूपकम्।।**

**अर्थात्**–दोनों एड़ियों से सींवन को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों और हाथों को फैलाकर स्थित हो तो यहाँ सिंहरूपी आसन (सिंहासन) होता है।

ध्यान की स्थिरता के लिए, इस आसन के साथ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाने का निर्देश है। इसका आशय यह है कि साधक को नासिकाग्र में दृष्टि योजित कर अपने इष्टदेव अथवा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यह आसन भी श्रेष्ठ आसन माना गया है।

## भद्रासन-कथन

**गुल्फौ च वृषणास्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।**
**साव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे।।५५**
**पार्श्वपादौ च पाथिभ्यां दृढ़ं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।**
**भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधि विनाशकम्।।५६**

**टीका**–अण्डकोषों के नीचे सींवन नाड़ी के दोनों पार्श्व भागों में टखनों को इस प्रकार रखें कि बाँया टखना बाँये पार्श्व में और दाँया टखना दाँये पार्श्व में लगाले। फिर सींवनी पार्श्वों

में गये हुए पांवों को हाथों से बाँधकर दृढ़ और स्थिर करे तो यह सभी व्यक्तियों को नष्ट करने वाला भद्रासन हो जायगा।५५-५६।

**व्याख्या**–इस आसन का वर्णन त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार मिलता है।

**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः।**
**निवेश्य भूमौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत्।।**

**अर्थात्**–सींवन के दोनों ओर दोनों ऐड़ियों को रखकर हाथ-पाँवों को बाँधकर बैठ जाय तो भद्रासन होता है।

इस आसन का माहात्म्य कहते हुए इसे सभी रोगों का नाशक माना गया है। यथार्थ में योगाभ्यास के द्वारा अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं। यह सभी की मान्यता और अनुभव-सिद्ध भी है। योगी को इसे अभ्यास से सिद्ध कर लेना चाहिए।

**गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः।**
**एवमासनवंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः।।५७**
**अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम्।**
**आसनं कुंभकंचित्रं मुद्राख्यं करणं तथा।।५८**

**टीका**–सिद्ध योगी पुरुष इसी आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसन को बाँधने से श्रम नष्ट हो जाता है। नाड़ी-शुद्धि की इच्छा वाला साधक मुद्रा आदि के द्वारा वायु का अभ्यास करे। आसन, विभिन्न कुम्भक, मुद्रा नामक करण का भी साधन करे।५७–५८।

**व्याख्या**–गोरक्षनाथ इसी का अभ्यास अधिकतर किया करते थे, इसलिये इसका नाम गोरक्षासन भी हुआ। इस आसन के द्वारा अभ्यास-काल में किये जाने वाले परिश्रम से थकान नहीं होती। उस योगी की उक्त आसन के साथ यह और करना चाहिये कि इड़ा नाड़ी के द्वारा बिना रुके प्राणवायु का पान करे और मुद्रादि को करता हुआ प्राणयाम का विधि पूर्वक साधन करे। इससे साधक को योगाभ्यास से शीघ्र सफलता मिला करती है।

श्लोक में ग्रन्थकार ने यह भी परामर्श दिया है कि साधक को इस आसन के साथ अनेक प्रकार के कुम्भक प्राणायामों और मुद्राओं का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि साधक के लिए योग के यह सभी अङ्ग आवश्यक और हितकर होते हैं।

**अथ नादानुसंधानमयभ्यासानुक्रमो हठे।**
**ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।।**
**अब्दादूर्ध्व भवेत्सिद्धो नात्रकार्यां विचारणा।।।५६।**

**टीका**–उक्त प्रकार अभ्यास करने पर नाद का अनुसंधान करे। ब्रह्मचारी मिताहारी, त्यागी और योग में लगा रहने वाला पुरुष एक वर्ष अभ्यास करने पर सिद्ध हो जाता है।।५६।।

**व्याख्या**–आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि का अभ्यास कर लेने पर नाद के चिन्तन का अभ्यास करे। आशय यह है कि कानों को दबाने पर ताड़ना के बिना ही जो अनाहत ध्वनि होती प्रतीत होती है, उसका चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार नाद का अनुसन्धान करता हुआ साधक ब्रह्मचर्य से रहे और

मिताहार करे। उसे योग में परायण रहकर त्यागशील होना चाहिए। ऐसा करने से एक वर्ष के पश्चात् ही सिद्धि हो जाती है।

नादविन्दूपनिषत् में योगी के लिए आवश्यक कर्त्तव्य बताये गये हैं–

**सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।**
**श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गत सदा।।**
**अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।**
**पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपद व्रजेत्।।**

**अर्थात्**–योगी को सिद्धासन् से बैठना चाहिए, वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए और दाँये कान में सदा अनाहत ध्वनि को सुगना चाहिए। इस नाद का किया जाने वाला यह अभ्यास वाह्य ध्वनियों को ढ़क लेता है, जिससे कि साधक तुर्यपद जीतने में सफल हो जाता है।

इसं प्रकार नादानुसग्धान के अभ्यास का अत्यन्त महत्व है। एक वर्ष में ही इसकी पूर्णतया सिद्धि हो जाती है। इस बात में कुछ विचार न करने का आशय यह है कि ऐसा विचार मन में न लावे कि ऐसा होगा अथवा नहीं होगा। क्योंकि जो कार्य निश्चयात्मक रूप से होने वाला है उसमें विचार करने का अर्थ उपदेश के प्रति अविश्वास का होना माना जायगा और अविश्वास हो तो कभी किसी कार्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

**सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।**
**भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।६०**

**टीका**–ठीक प्रकार से चिकना और मधुर आहार चौथाई पेट खाली रखते हुए शिव की प्रीति के लिए करे, यह मिताहार कहलाता है।६०।

**व्याख्या**–'शिवसंप्रीत्ये' कहकर ग्रन्थकार ने शिव अर्थात् आत्मा की प्राप्ति की प्रीति के लिए भोजन करने का उपदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि साधक की जीवन-यापन अथवा प्राणयात्रा चल सके, इसके लिए ही भोजन करे। सुस्वादु या अस्वादु भोजन के प्रिय या अप्रिय होने की ओर ध्यान न दे। तीन चौथाई आहार ग्रहण करे और चौथाई पेट खाली रखे।

कुछ ग्रन्थकारों ने मिताहार का लक्षण यह बताया है कि पेट का आधा भाग अन्न से पूर्ण करे और चौथाई भाग जल से। इस प्रकार पौन भाग भरना उचित है। चौथाई भाग प्राणवायु के ठीक प्रकार संचारार्थ खाली रखे।

**कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौ-**
**वीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्याकूः।।**
**आजादिमांसदधितक्रकुलत्थ कोलपि-**
**ण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः।।६१**

**टीका**–कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, लवण, उष्ण, हरे शाक, काँजी तेल, तिल, सरसों, मदिरा, मत्स्य, बकरी आदि का माँस, दही मट्ठा, कुलथि, बेर, खल, हींग आदि पदार्थ योगियों के लिए अपथ्य होते हैं।६१।

**व्याख्या**–कटु पदार्थों में करेला आदि, अम्ल में इमली आदि तीक्ष्ण में मिर्च आदि चटपटे मसाले, लवण में नमकीन उष्ण में गुड़ आदि शाक, सौवीर (काँजी) तेल, तिल आदि, मदिरा में मध्य, विजया, अहिफेन आदि मत्स्य और अजा आदि का माँस, दधि चक्र, कुलथी, बेर, पिण्याक अर्थात् खल हींग लशुन, प्याज आदि यह सभी उत्तेजक द्रव्य माने जाते हैं। इसी लिए इन्हें अपथ्य कहा गया है। योगाभ्यासियों का कर्त्तव्य है कि उक्त द्रव्यों का त्याग कर दें।

**भोजनमहितं विद्यापुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम्।**
**अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनषाकोत्कटं वर्ज्यम्।।६२**
**बह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत्।।६३**

**टीका**–अग्नि पर दुबारा गर्म किया गया अन्न, रूखे या अत्यन्त लवण और अम्ल युक्त पदार्थ एवं कुत्सित अन्न के आहार का निषेध है। अभ्यास-काल में अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन आदि नहीं करना चाहिए।६२–६३।

**व्याख्या**–ठण्डे अन्न दाल, चावल आदि को अग्नि के संयोग से पुनः उष्ण करके खाना ठीक नहीं। रूक्ष भोजन अर्थात् घृतादि से रहित रूखा भोजन भी अहितकर है। लवण और अम्ल का अधिक सेवन अनुचित है अर्थात् अधिक नमकीन और अधिक खट्टे द्रव्यों का सेवन भी अलाभकर है। कुछ विद्वानों ने लवण-युक्त आहार का सर्वथा निषेध किया है। परन्तु श्लोक में 'अतिलवणाम्लयुक्त' कहकर स्पष्ट किया है कि अधिक लवण या अधिक अम्ल द्रव्य का सेवन न करे इसका अभिप्राय हुआ कि किंचित् लवण या किंचित् अम्ल का प्रयोग किया जा सकता

है।

इसी प्रकार कुत्सित अन्न के त्याग का भी उपदेश है कुत्सित अन्न का अभिप्राय खराब, सड़े, गले, बासी अन्न से है योगाभ्यासों को इस प्रकार का अन्न सेवन नहीं करना चाहिए

अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन न करने का आशय य है कि साधक अग्नि के सेवन से तथा स्त्री के संसर्ग से बचे परन्तु ऐसा आचरण अभ्यास काल में ही करने का उपदेश है श्लोक से ऐसा ही प्रतीत होता है। इस विषय में गोरक्षनाथ क कहना है–

**वर्जयेद् दुर्जनं प्रान्तं वह्निस्त्रीपथि सेवनम्।**
**प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा।।**

**अर्थात्**–दुर्जन के संग रहना, अग्नि और स्त्री का सेव प्रातःकाल में स्नान एवं उपवास आदि तथा जिस विधि से का को क्लेश हो उसे त्याग दे।

इस प्रकार योगाभ्यास काल में वहीं आचरण रखे जिस कि शरीर स्वस्थ रहे, मन में शान्ति और स्वच्छता बनी र यदि ऐसा न होगा तो साधना में चित्त का लगना सम्भव न है।

# योगियों को पथ्याहार

**गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्न-**
**क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामूर्धनि।**
**शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं-**
**मुद्गादि दिव्यमुदकं च यतींद्रपथ्यम्।।६४**

**टीका**—गेहूँ, शालि और जो यह छः दिन में परिपाक प्राप्त होते हैं। शोभन अन्न में दुग्ध, घृत, खाँड़, मक्खन, मिश्री, मधु, सोंठ, परबल फल आदि पाँच प्रकार के शाक, मूँग आदि तथा दिव्य जल, यह पदार्थ योगीन्द्रों के लिए पथ्य हैं।६४।

**व्याख्या**—उक्त पदार्थों का सेवन ही योगी के लिए हितकर है। विशेष कर दूध, घी, मक्खन, मिश्री आदि मधुर और स्निग्ध पदार्थ हैं, यह मिताहार के अन्तर्गत भी सेवनीय हैं। दिव्य जल का अभिप्राय शुद्ध जल से है, जो कि मैल रहित एवं स्वच्छ होना चाहिए।

**पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।**
**मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।।६५**

**टीका**—पुष्ट, सुमधुर, स्निग्ध, गव्य (दुग्धादि युक्त) धातुओं का पोषण करने वाले और मन को अच्छा लगने वाले और अपने योग्य का आहार ही योगी को करना चाहिए।६५।

**व्याख्या**—भोजन ऐसा हो जो धातुओं को पुष्ट करे और मन को अच्छा लगे। यदि मन को अच्छा न लगेगा तो उदर पोषण के योग्य आहार करना भी कठिन हो जायगा। गव्य अर्थात् गाय

के दूध-घृत आदि से निर्मित पदार्थों का सेवन ही उपयुक्त है।

**युवा वृद्धोऽतिबृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।**
**अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः।।६६**

**टीका**–साधक युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध रोगी या दुर्बल करने पर सिद्धि को प्राप्त होता है।६६।

**व्याख्या**–योगाभ्यास में साधक की आयु का कोई विचार नहीं होता अर्थात् युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध किसी भी अवस्था का ही रोगी हो या बल-हीन हो, साधना में तत्पर रह सकता है और साधना में तत्पर रहने वाले को सिद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। परन्तु आवश्यक यह है कि साधक आलस्य को छोड़कर अभ्यास में लगा रहे तो उसके रोगादि नष्ट होकर आरोग्य और सिद्धि दोनों का ही लाभ होता है।

**क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।**
**न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते।।६७**

**टीका**–क्रिया में लगे रहने वाले पुरुष को ही सिद्धि होती है, क्रियाहीन को सिद्धि नहीं हो सकती। केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से भी योग सिद्धि नहीं हो सकती।६७।

**व्याख्या**–यदि कोई समझे कि शास्त्रों के अध्ययन मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाय, तो यह कभी भी नहीं हो सकता। कर्मवान् पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त होता है। क्रिया युक्तस्य सिद्धिः' कहकर ग्रन्थकार ने कर्मयोग की ओर संकेत किया है। वेदों का भी यही मन्तव्य है 'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीना योगमिन्वति' अर्थात् 'योग के बिना विद्वान् का भी कोई

यज्ञादि कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध करना है।'

इस प्रकार चित्त वृत्तियों के निरोध रूपी कर्म से ही योग सिद्धि सम्भव है, केवल शास्त्र पठनादि से नहीं।

**न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।**

**क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः।।६८**

**टीका**—न किसी प्रकार का वेश धारण करने से ही सिद्धि हो सकती है और न उनकी कथा सुनने से ही। सिद्धि का कारण क्रिया है, यह सत्य है इसमें कोई संशय नहीं।६८।

**व्याख्या**—गेरुए वस्त्रों का धारण करने, सिर मुँडा लेने या किसी सम्प्रदाय के चिन्ह धारण करके वैसा वेश बना लेने अथवा योग विषयक चर्चा या योग-विधि सुन लेने मात्र से ही योग की सिद्धि हो सकती है। उसके लिये तो योग की क्रियाओं को करना ही अपेक्षित है। तभी सिद्धि हो सकती हैं।

**पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च।**

**सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि।।६६**

**टीका**—विभिन्न प्रकार के आसन, और दिव्य करण यह सब हठयोग के अभ्यास में राजयोग का फल होने तक करना चाहिए।६६।

**व्याख्या**—जब तक राजयोग की सिद्धि न हो जाय, तब तक आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास करना आवश्यक है। आशय यह है कि राजयोग की सिद्धि पर आसनआदि के अभ्यास को कम किया जा सकता है।

**।।हठयोग प्रदीपिका का प्रथम उपदेश समाप्त।।**

# द्वितीय-उपदेश

# प्राणायाम वर्णन

**अथासने दृढ़े योगी वशी हितमिताशनः।**
**गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत्।।१**

**टीका**—आसनों को दृढ़ता होने पर हितकर मिताहार करता हुआ योगी गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से प्राणायाम का अभ्यास करे।।१।।

**व्याख्या**—श्लोक में अथ शब्द पश्चात् का वाचक है इससे समझना चाहिए कि आसनों का अभ्यास दृढ हो जाय तब प्राणायाम के अभ्यास का प्रारम्भ करे। प्राणायाम के अभ्यास काल में भी पूर्वोक्त विधि से अल्पाहार करता हुआ जीवन-यापन करे। परन्तु इसमें भी गुरु के उपदेश की आवश्यकता रहती है। क्योंकि प्राणायामों के विविध प्रकारों में से उसी का अभ्यास करना चाहिए जो अपनी शारीरिक अवस्था के अनुकूल पड़ता हो, और इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब गुरु से इस विषय में पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

**चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।**
**योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।।२**

**टीका**—प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त भी चञ्चल हो जाता है, और प्राणवायु स्थिर हो तो चित्त भी निश्चल होता है। यदि वायु और चित्त दोनों ही निश्चल रहें तो स्थाणुत्व की प्राप्ति

होती है। इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए।२।

**व्याख्या**—शास्त्रों में मन की चंचलता पर विजय प्राप्त करने का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है, और मन की चंचलता रोकने के लिए आवश्यकता है प्राण को स्थिर करने की। अनेक विद्वानों ने प्राण और मन में कोई भेद नहीं माना है। वृहदारण्यक उपनिषत् में कहा गया है कि 'जब हृदयस्थ कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य ही अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।' इस प्रकार कामनाओं के नष्ट करने के लिए मन और प्राण निरोध आवश्यक है।

**यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।**
**मरणं तस्यनिष्क्रांस्तितो वायुं निरोधयेत्।।३**

**टीका**—शरीर में जब तक प्राण वायु है तभी तक जीवन कहलाता है और जब शरीर से प्राणवायु निकल जाता है तब उसे मरण कहते हैं, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए।३।

**व्याख्या**—शरीर में प्राण रहने तक जीवन और प्राण निकल जाने पर मृत्यु मानी जाती है। इस श्लोक में प्राणनिरोध कहने का अभिप्राय प्राणायाम द्वारा वायु के अभ्यास से आयु-वृद्धि होती है।

# मलशोधन की महत्ता कथन

**मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।**
**कथं स्यादुन्मनीभाव कार्यसिद्धिः कथं भवेत्।।४**

**टीका**–जब तक नाड़ियाँ मल से भरी हुई हैं, तब तक प्राणवायु मध्यगामी नहीं होता और वैसा न होने पर उन्मनी भाव नहीं हो सकता तो कार्यसिद्धि ही कैसे हो सकती है? ।४।

**व्याख्या**–नाड़ियों की शुद्धि हठयोग में अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि नाड़ियों के शुद्ध होने पर ही प्राणवायु मध्यगामी हो सकता है और तभी कार्यसिद्धि हो सकती है। योगचूड़ामण्युपनिषत् के अनुसार–

**यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।**
**नादाभिव्यक्तिरोग्यं जायते नाड़िशोधनात्।।**

**अर्थात्**–वायु का यथेष्ट धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य, यह सब नाड़ीशोधन से प्राप्त होते हैं।

**शुद्धमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।**
**तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः।।५**

**टीका**–जब मल से पूर्ण सम्पूर्ण नाड़ी चक्र शुद्धि को प्राप्त होता है, तभी योगी प्राण-संग्रह में सक्षम होता है।५।

**व्याख्या**–सभी नाड़ियों का मल दूर होकर शोधन हो जाने पर ही प्राणवायु का निरोध हो सकता है। इसलिए योगी को मल-शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास सदा करते रहना चाहिए।

**प्राणायाम ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया।**
**यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च।।६**

टीका—इसलिए सात्विक बुद्धि से नित्य प्रति प्राणायाम करे, जिससे कि सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल की शुद्धि हो सके।।६।।

व्याख्या—प्राणायाम के साथ सात्विक बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि राजसी और तामसी बुद्धि रखने से मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती। क्योंकि रजोगुण के धर्म है विक्षेप, आलस्य आदि और तमोगुण के धर्म हैं, क्रोध, विषाद, ईर्ष्यादि। इसलिए रजोगुण-तमोगुण के बुद्धि में विद्यमान रहते हुए किसी प्रकार की सफलता सम्भव नहीं है।

**बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।**
**धारयित्वा यथाशक्तिः भूयः सूर्येणरेचयेत्।।७**

**टीका**—बद्ध पद्मासन लगाकर बैठा हुआ योगी चन्द्रनाड़ी से प्राणवायु को पूर्ण करे और फिर उसे अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता हुआ सूर्य नाड़ी से निकाल दे।७।

**व्याख्या**—चन्द्रनाड़ी का अर्थ इड़ा नाड़ी है, जो वाम नासापुट में होती है और सूर्य नाड़ी पिंगला को कहते हैं, इसका निवास दक्षिण नासापुट में होता है। प्राणायाम की क्रिया में वाम नासापुट के द्वारा प्राणवायु बाहर खींचते हैं, इसे पूरक कहते हैं। उस खींचे हुए वायु को रोकना कुम्भक और दक्षिण नासापुट द्वारा उसे निकाल देना रेचक है। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

श्लोक में बद्ध पद्मासन का वर्णन हुआ है, यह आसन

पद्मासन होने पर ही सिद्ध होता हैं त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्' में इसका लक्षण बताते हुए कहा है–

**पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः।**
**व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत्।।**

**अर्थात्**–पद्मासन लगा कर ठीक प्रकार बैठे और दाँये हाथ से बाँये पाँव के अँगूठे को तथा बांये हाथ से दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ना बद्ध पद्मासन कहा जाता है।

**प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूर येदुदरं शनैः।**
**विधिवत्स्तंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत्।।८**

**टीका**–सूर्य प्राणी से प्राण को खींचकर धीरे-धीरे उदर को पूरित करे विधिवत् कुम्भक करता हुआ चन्द्रनाड़ी से रेचक करे।८।

**व्याख्या**–यह व्युत्क्रम है। पहले वाम नासापुट से वायु खींचकर दक्षिण से रेचन करना बताया गया और यहाँ दक्षिण नासापुट से वायु खींचकर वाम नासापुट से निकलना कहा गया है। यह क्रम नाड़ी-शोधन में उपयोगी होता है।

**येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधयः।**
**रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः।।९**

**टीका**–जिस नाड़ी से प्राणवायु को निकाले, उसी से पुनः पान करके धारण करे और फिर दूसरी से निकाल दे। यह कार्य शीघ्रता से न करके धीरे-धीरे करना चाहिए।९।

**व्याख्या**–नियम यह है कि सूर्य नाड़ी से रेचन करे तो उसी से खींच कर चन्द्रनाड़ी को निकाल दे और फिर चन्द्रनाड़ी से

खींचकर सूर्य नाड़ी से रेचन करे। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करना चाहिये।

अभ्यास काल में वायु-पान रेचन करते समय शीघ्रता से कार्य न करें, वरन् धीरे-धीरे ही करे। वेग से कार्य करने में हानि हो सकती है।

# प्राणायाम का अवान्तरफल कथन

**प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये**
**त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया।**
**सूर्या चंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां।**
**शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः।।१०**

**टीका**—यदि प्राणवायु का इड़ा नाड़ी से पान करे तो नियमित हुए उस वायु का पान करे तो कुम्भक के पश्चात् उसे पिंगला से प्राणवायु का पान करे तो कुम्भक के पश्चात् उसे इड़ा नाड़ी से निकाल दे। इस प्रकार चन्द्रनाड़ी से पूरक करे तो चन्द्रनाड़ी से निकाले। इस भाँति अभ्यास करने से तीन महीने में ही नाड़ी-शोधन हो जाता है।१०।

**व्याख्या**—नाड़ी शोधन के लिए सीधे और उल्टे क्रम से निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि तीन महीने के अभ्यास से नाड़ियों का मल शुद्ध हो जाता है।

**एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।**

**सम्पूर्णकुम्भवद्देह कुम्भयेन्मातरिश्वना।।**
**पूरणान्नाडयः सर्वां पूर्यन्ते मातरिश्वना।**
**एवं कृति सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः।।**

**-त्रिशिव ब्राह्मण ६७-६८**

**अर्थात्**—इस प्रकार बारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करता हुआ शरीर के भीतर वायु को भरे और कुम्भ के समान रोके। इससे सब नाड़ियाँ वायु से भर जाती हैं और उनमें दशो वायु भली प्रकार चलने लगती हैं।

**प्रातर्मध्यं दिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान्।**
**शनैरशीतिर्यतं चतुर्वारं समभ्यसेत्।।११**

**टीका**—प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल और आधी रात के समय अस्सी-अस्सी कुम्भकों को करता हुआ धीरे-धीरे अभ्यास करे।११।

**व्याख्या**—इस श्लोक में प्राणायाम के अभ्यास का निश्चित समय और उसकी अवधि पर प्रकाश डाला गया है। अरुणोदय से तीन घड़ी दिन चढ़ने पर्यन्त प्रातःकाल में मध्याह्न अर्थात् दिन के मध्यकाल में अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक के मध्य समय में और फिर सूर्यास्त के समय से तीन घड़ी पश्चात् तक तथा रात्रि के मध्य में, इस प्रकार चार बार करें। प्रत्येक तीन घड़ी की अवधि में अस्सी बार प्राणायाम की त्रिपुटी (पूरक, कुम्भक, रेचक) करनी चाहिए इस प्रकार चारों बार में तीन सौ बीस प्राणायाम हो जाते हैं।

**कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे।**

**उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्।।१२**

**टीका**—कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद, मध्यम में कम्प और उत्तम में उत्तम स्थान की प्राप्ति होती है, इसलिए योगी को वायु का निरोध करना चाहिए।१२।

**व्याख्या**—कनिष्ठ का आशय निम्न श्रेणी के प्राणायाम से है, उसमें साधक को पसीना आता है। मध्य श्रेणी के प्राणायाम में योगी काँपने लगता है और उत्तम श्रेणी के प्राणायाम का श्रेष्ठ स्थान मिलता है। वह श्रेष्ठ स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, जिसे विद्वानों ने मोक्ष-स्थान कहा है।

परन्तु ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु का पहुँचना कोई साधारण कार्य नहीं है। मेलन के अभ्यास द्वारा जाग्रत् हुई कुण्डलिनी जब षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाने का मार्ग खोल देती है तभी प्राणवायु की भी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच हो सकती है, और यह कार्य अत्यन्त कठिन और परिश्रम साध्य है। साधारण अभ्यास से इसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है।

किसी-किसी विद्वान् ने 'उत्तम स्थानमाप्नोति' का अर्थ आसन से उठना कहा है, जिसका आशय है पृथ्वी से उठकर आकाश अर्थात् ऊपर की ओर चढ़ना। इनसे भी टीका के अर्थ में सामंजस्य स्थापित होता है, क्योंकि उत्तम स्थान की प्राप्ति और ऊपर उठने में कोई भेद नहीं है। ऊपर उठने को उन्नति कह सकते हैं और यही पद श्रेष्ठ स्थान के लिए भी संयुक्त हो सकता है।

ब्रह्मरन्ध्र तुर्यातीत का स्थान माना गया है, इसीलिए उसको उत्तम स्थान कहा है। जैसे—

तुर्यातीत परब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्ति समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम्।।
तत्रात्मभाऽयं तुरीयः स्यात्तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।
-त्रिशिखब्राह्मण१५०-१५१

अर्थात्–तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर होता है। जाग्रत् वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय के आत्मा का निवास है, उसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है।

इस प्रकार योगी अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए और निकृष्ट श्रेणी में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे ही उत्तम अवस्था तक पहुँचने में सफल हो जाता है।

**जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।**
**दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते।।१३**

**टीका**–प्राणायाम के श्रम से जो जल उत्पन्न हो उसे शरीर पर ही मलले तो शरीर में दृढ़ता और लघुता उत्पन्न हो जायगी।।१३।।

**व्याख्या**–प्राणायाम के अभ्यास काल में जो परिश्रम होता है, उससे पसीना आने लगता है। वही पसीना साधारण नहीं वरन् दिव्य होता है, जिससे कि शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि के साथ-साथ दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है तथा लघुता अर्थात् हलकापन अनुभव होने लगता है।

**अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।**
**ततोऽभ्यासे दृढ़ीभूते न तादृङ्नियमग्रहः।।१४**

**टीका**–अभ्यास काल में प्रथम दूध-घी का भोजन करे, परन्तु अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वैसा कोई नियम नहीं है।१४।

**व्याख्या**–किसी भी प्रकार का साधन प्रारम्भ करने से पूर्व उसके अनुकूल नियमों का पालन भी आवश्यक होता है। यहाँ दूध-घी युक्त भोजन का विधान बताकर यह मत व्यक्त किया है कि, दूध-घी जैसा मधुर और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। मिताहार में भी दूध घी के सेवन का उपदेश है, इसलिए साधक को इसी प्रकार का भोजन प्रारम्भ में करना चाहिए। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर उन नियमों में ढ़ील बरत सकते हैं।

**यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।**
**तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम्।।१५**

**टीका**–जैसे सिंह, हाथी, व्याघ्र धीरे-धीरे वश में हो जाते हैं, वैसे ही प्राणवायु भी शनैः-शनैः वश में होता है, अन्यथा साधक को ही नष्ट कर देता है।१५।

**व्याख्या**–प्राणवायु को वश में करने का अभ्यास धीरे-धीरे ही करना चाहिए। वेग से करने पर साधक के लिए हानिकारक भी हो सकता है। सिंह हाथी आदि को भी धीरे-धीरे वशीभूत किया जाता है और यदि उसमें शीघ्रता की जाती है तो वे वश में करने वाले को ही मार डालते। प्राणवायु के विषय में भी यही समझना चाहिये। क्योंकि कुपित हुआ वायु प्राण का भी हरण कर सकता है।

# युक्तायक्त प्राणायाम: फल का वर्णन

**प्राणायामांदियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।**
**अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भव:।।१६**

**टीका**—युक्त प्राणायाम से सभी रोग नष्ट होते हैं और अयुक्त प्राणायाम से सभी रोग उत्पन्न हो सकते हैं।१६।

**व्याख्या**—विधि के अनुसार किया हुआ कार्य युक्त होता है और युक्त कार्य से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। वैसे ही युक्त प्राणायाम शरीर में पहले से विद्यमान रोगों का क्षय कर देता है और फिर किसी नवीन रोग को उत्पन्न नहीं होने देता परन्तु विधि-विहीन अर्थात् स्वेच्छाचारिता पूर्वक किया जाने वाला प्राणायाम हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उससे अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास में प्राणायाम में ही नहीं, सभी प्रक्रियाओं में योगशास्त्रों में वर्णित विधियों को ठींक प्रकार से पालन करना हिये। वह शास्त्र-विधि भी केवल अध्ययन मात्र से नहीं आ सकती, वरन् अनुभवी सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए।

**हिक्का श्वासश्च कासश्च शिर: कर्णाक्षिवेदना:।**
**भवंति विविधा रोगा: पवनस्य प्रकोपत:।।१७**
**युक्तं युक्तं त्यजेद्वायु युक्तं युक्तं च पूरयेत्।**

**युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्।।१८**

**टीका**–वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिरोवेदना एवं अन्यान्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए युक्त-युक्त रूप से ही वायु का रेचक और पूरक करे। युक्त-युक्त बन्ध आदि करने से सिद्धि प्राप्त होती है।१७–१८।

**व्याख्या**–विधि-विहीन प्राणायाम के कारण यदि वायु कुपित हो जाता है तो उससे श्वास-खाँसी, हिचकी, सिर दर्द, कानों का दर्द आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये पूरक, कुम्भ और रेचक इन तीनों को ही विधिपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि विधि सहित करने से वायु कुपित नहीं होता, जिससे अभ्यास में सफलता मिलना स्वाभाविक होता है।

**यदा तु नाड़ीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः।**
**कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम्।।१९**
**यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।**
**नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाड़िशोधनात्।।२०**

**टीका**–जब नाड़ी-शोधन हो जाता है तब बाहर-भीतर जो चिन्ह दिखाई देते हैं, उनमें शरीर की कृशता और कान्ति अवश्य ही होते हैं। वायु के यथेष्ट धारण से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाद की अभिव्यक्ति होती है और नाड़ी-शुद्धि के कारण आरोग्यता उत्पन्न होती है।१९–२०।

**व्याख्या**–नाड़ी शुद्ध होने पर उसके चिन्ह शरीर के बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थूलता (मोटापन) मिटकर कृशता अर्थात् पतलापन हो जाता

है। मुख पर तेज दिखाई देने लगता है, सौंदर्य निखर आता है और देह में पुष्टि आ जाती है।

वायु का ठीक प्रकार से धारण उदर विकारों को भी नष्ट कर देता है। मन्दाग्नि मिटकर अग्नि का दीपन होता है, जिससे आहार के पाचन की शक्ति सुनाई देने लगती है और किसी प्रकार का कोई रोग हो तो वह भी मिट जाता है।

इस प्रकार नाड़ी-शोधन के बहुत कुछ लाभ हैं। उसके बिना प्राणवायु की स्थिरता सम्भव नहीं होती तो फिर सिद्धि की प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है?

**मेदः श्लेष्माधिकः पूर्व षट्कर्माणि समाचरेत्।**
**अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः।।२१**
**धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।**
**कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते।।२२**
**कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।**
**विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः।।२३**

**टीका**—जिसके शरीर में मेद और श्लेष्मा की अधिकता हो, उसे पहले छः कर्म करने चाहिए। परन्तु यदि मेद और श्लेष्मा की अधिकता न हो तो उन छहः कर्मों को न करे। वे छः कर्म यह कहे हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलिक और (६) कपालभाति। यह छहों कर्म गोपनीय तथा शरीर को शुद्ध करने वाले हैं। विचित्र गुणों का सन्धान करने वाले होने से यह योगिपुंगवों द्वारा पूजित हैं।२१—२३।

**व्याख्या**—स्थूल शरीर वाले पुरुष को उपर्युक्त छः कर्म

करने चाहिए। इन कर्मों से शरीर की शुद्धि होती है। यदि श्लेष्मा अर्थात् नाक, मुख से कफ जाना या जुकाम अथवा कफ की अधिकता हो उसके लिये भी यह कर्म लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु जिन्हें स्थूलता या कफ-विकार की अधिकता न हो उनके लिए यह षट्कर्म अनावश्यक हैं।

इस प्रकार षट्कर्म शरीर के कफ और मेद को दूर करने में सहायक हैं। नीचे इनके विषय में पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

# धौति कर्म

**चतुरंगुल विस्तारं हस्तपंचदशायतम्।**
**गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।।**
**पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत्।।२४**

**टीका**–चार अंगुल विस्तृत और पन्द्रह हाथ आयत के वस्त्र को जल से सींचकर गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से धीरे-धीरे ग्रसे और फिर उसका धीरे-धीरे ही प्रत्याहरण करे, यह धौति कर्म होता है।२४।

**व्याख्या**–धौति कर्म षट्कर्मों में प्रथम कर्म है इसके लिए चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा महीन वस्त्र जल में भिगोवे और फिर गुरू द्वारा निर्दिष्ट विधि से उस वस्त्र को धीरे-धीरे निगले। उसके एक छोर को अपनी दाढ़ों में ठीक प्रकार से दवा ले। वह वस्त्र उदर में जाकर टिक जाय तब वहाँ ठीक प्रकार से चलाकर बाहर निकाल दे। यह धौति कर्म है।

**कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।**
**धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः।।२५**

**टीका**—इस धौति कर्म के प्रभाव से खाँसी, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ और बीस प्रकार के कफ रोग अवश्य दूर हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।२५।

**व्याख्या**—यह कर्म कफ के विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी है। खाँसी, जुकाम, श्वास आदि रोगों में हितकर तथा प्लीहा अर्थात् तिल्ली और कुष्ठ रोग एवं अन्यान्य चर्म-विकार भी दूर हो जाते हैं।

# वस्ति कर्म

**नाभिदध्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।**
**आधारकुंचनं कुर्य्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत्।।२६**

**टीका**—नदी आदि के नाभि प्रमाण जल में स्थित होकर गुह्य प्रदेश में कनिष्ठिका अँगुली के प्रवेश योग्य छिद्र वाली बाँस की नली को प्रविष्ट करे और उत्कटासन लगाकर बैठे। इस प्रकार बैठे हुए साधक को आधार का आकुंचन करना चाहिए। यह वस्ति कर्म है।२६।

**व्याख्या**—वस्ति कर्म षट् कर्मों में दूसरा है। बाँस की छः अंगुल लम्बी वह बाँस की नली गुदामार्ग में चार अंगुल भीतर प्रविष्ट करे और दो अंगुल बाहर रहने दे। उत्कटासन लगाकर बैठे। इस प्रकार बैठा हुआ साधक, वंशनाल में जैसे ही जल प्रविष्ट हो, वैसे ही आकुंचन करे अर्थात् खींचे और नौली कर्म द्वारा उदर में घलाकर निकाले। इस प्रकार उदर का क्षालन

करना अर्थात् होना ही वस्ति कर्म है।

धौति और वस्ति दोनों ही कर्म भोजन से पहले ही करने चाहिए तथा इन कर्मों को करने के तुरन्त बाद भोजन कर लेना चाहिए। इससे काया रोग-रहित रहती है, परन्तु इस कर्म को ठीक प्रकार से करना चाहिए। जो लोग गुदा में नाल प्रविष्ट किये बिना ही वस्ति कर्म कर लेते हैं, उनके वैसा करने से उदर प्रक्षापालन का पूरा जल बाहर नहीं निकल पाता, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

**गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।**
**वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः।।२७**
**धात्विद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कौंति वहिनप्रदीप्तिम्।**
**अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिनम्।।२८**

**टीका**–वस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहोदर एवं वात, पित्त, कफ से उत्पन्न सभी रोग क्षीण हो जाते हैं। यह वस्ति कर्म करने से धातु, इन्द्रिय, करण को हर्ष की प्राप्ति होती है तथा शरीर में कान्ति और उदर में अग्नि प्रदीप्त है। अशेष दोषों का अपचय भी इसके द्वारा नष्ट हो जाता है। यह जलवस्ति कर्म है।२७–२८।

**व्याख्या**–वस्ति कर्म के द्वारा उदर के सम्पूर्ण रोग दूर किये जा सकते हैं। बात, पित्त, कफ के रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं, चाहे वे एक दोष के कुपित होने से हुए हों, चाहे दो दोषों के कोप से या त्रिदोषज ही क्यों न हो।

धातु हर्ष का अर्थ है धातुओं का पुष्ट अथवा परिपक्व होना। धातु में रस, रक्त, मांस, मेद, शुक्र यह पाँच कर्मेन्द्रिय

कहलाती हैं तथा श्रोत, त्वक्, जिह्वा, घ्राण और चक्षु यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। 'करण' कहने से अभिप्राय मन बुद्धि, रूप अहङ्कार रूप अन्तः करण का है। इनको प्रसन्न करना अर्थात् सुपुष्ट करना ही कान्ति वर्द्धक तथा जठराग्नि प्रदीपक है, यही जलवस्ति कर्म होता है।

# नेति कर्म

**सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।**
**मुखान्निर्गमयेच्चेषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते।।२६**
**कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।**
**जत्रूर्ध्वजातरोगौधं नेतिराशु निहंति च।।३०**

टीका–एक विलाँद (बालिश्त) परिमाण का सूत्र लेकर उसे भलीं प्रकार स्निग्ध अर्थात् चिकना कर ले और उसे नासिका की नली में प्रविष्ट करके मुख के द्वारा निकाल दे। इसे सिद्ध पुरुष नेति कहते हैं। यह क्रिया कपाल का शोधन करने वाली, दिव्य दृष्टि देने वाली तथा स्कन्ध-सन्धि के ऊपर के भाग के सब रोगों को शीघ्र दूर करने वाली हैं।२६–३०।

व्याख्या–सूत्र का एक विलाँद का टुकड़ा लेकर उसे चिकना करके और नाक द्वारा घुसा कर मुख द्वारा निकाल दे। कुछ लोगों के विचार में सूत्र का एक विलाँद भर होना कोई आवश्यक नहीं है, जितना सूत्र इस कर्म के लिए अपेक्षित हो, उतना ही लेना चाहिए। इस क्रिया से कन्धे की सन्धि के ऊपरी भागों के सब रोग मिल जाते हैं। इससे कपाल का शोधन भी होता है।

# त्राटक कर्म

**निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहितः।**
**अश्रु संपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।।३१**
**मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम्।**
**यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।।३२**

**टीका**—समाहित चित्त वाला पुरुष निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ को अश्रुपात होने तक देखता रहे। इसे योगाचार्यों ने त्राटक कर्म माना है। यह नेत्र के रोगों का शमन करने वाला और तन्द्रा आदि के लिए कपाट रूप है। यह स्वर्ण की पेटी को गुप्त रखने के समान ही यत्नपूर्वक गोपनीय है।३१–३२।

**व्याख्या**—'समाहित' का अर्थ है समान रूप होना और यहाँ इसका अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता रहना, श्लोक में एकाग्र चित्त रखता हुआ साधक किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ को अथवा शून्य को लक्ष्य बनाकर उस पर दृढ़ता से दृष्टि जमा कर तब तक देखता रहे जब तक कि नेत्रों से आँसू न निकलने लगें। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और तन्द्रा आदि तो इस प्रकार दूर हो जाती है जैसे कि कपाट खुलने पर अन्धकार दूर हो जाता है।

यह क्रिया इतनी अमूल्य है कि इसे स्वर्ण की पेटी के समान गोपनीय रखना चाहिये। कुछ विद्वानों के अनुसार इससे साधक को सम्मोहन-शक्ति भी प्राप्त होती है।

# नौलि कर्म

**अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः।**
**नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते।।३३**
**मँदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव।**
**अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिरयं च नौलिः।३४**

**टीका**—अमन्द आवर्त के वेग से अपने उदर को दाँये बाँये भागों में भ्रमावे, इसे विज्ञजन नौलिकर्म कहते हैं। यह मन्दाग्नि का दीपन, पाचनादि करने वाला आनन्दकारी कर्म है। इससे अशेष वातादि दोषों और रोगों का नाश होता है। यह हठयोग की श्रेष्ठ नौलि क्रिया है।३३—३४।

**व्याख्या**—कन्धे नवाये हुए साधक अत्यन्त उदार वेग वाला होकर आवर्त्त अर्थात् जल की भ्रान्ति के समान वेग से अपने उदर को दाँयी-बाँयी ओर घुमावे तो नौलि कर्म होता है। इसे सतत अभ्यास द्वारा सिद्ध करना चाहिये। इस कर्म से मन्दाग्नि दूर होकर अन्न आदि का ठीक प्रकार पाचन होता है। बात के प्रकोप से होने वाले रोग और दोष इसके द्वारा समूल रूप से शोषण को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि इससे सभी वातादि विकारों का समूल नाश होता है।

# कपालभाति कर्म

**भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।**
**कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।।३५**

**टीका**—लोहकार की भस्त्रा के सम्भ्रम से रेचकपूरक प्राणायाम करना कफदोष का शोषण करने वाला कपाल भाति कर्म प्रसिद्ध है।३५।

**व्याख्या**—यह कपाल भाति कर्म षट्कर्मों में छटा है। जैसे लोहार की धोंकनी चलती है, वैसे ही एक बार में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक प्राणायाम करें। इससे कफ दोष का नाश होता है।

**षट्कर्मत्रिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।**
**प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्धयृति।।३६**

**टीका**—धौति आदि षट्कर्मों से स्थूलता एवं बीस प्रकार के कफ दोषों से मुक्त हुआ पुरुष षट्कर्मों को करने के पश्चात् प्राणायाम करे तो अनायास ही सिद्धि हो जाती है।३६।

**व्याख्या**—षट्कर्मों के करते रहने से स्थूलता और कफ के कोप से उत्पन्न सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और जब इस प्रकार आरोग्य की प्राप्ति हो जाय तब षट्कर्म करके प्राणायाम करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि षट्कर्म करके प्राणायाम करे तो बिना परिश्रम ही प्राणायाम की सिद्धि हो जाती है और षट्कर्म किये बिना ही प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि में अधिक परिश्रम करना होता है। इसलिए षट्कर्म करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना ठीक है।

**प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति।**
**आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम्।।३७**

**टीका**—प्राणायाम के द्वारा ही सब मल शुष्क हो जाते हैं ऐसा मत कुछ आचार्यों का है।३७।

**व्याख्या**—कुछ आचार्यों के मत में उक्त छः कर्म आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार केवल प्राणायाम करने से ही सम्पूर्ण मलों की निवृत्ति हो सकती है। इस मत के अनुसार षट्कर्मों का अनुपयोग सिद्ध होता है।

## गजकरणी कथन

**उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले।**
**क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै।३८**

**टीका**—अपान वायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचा कर उदर में गये हुए पदार्थ समूह का उद्वमन करते हैं, उसके क्रमपूर्वक अभ्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना, हठयोग के विज्ञ आचार्यों के मत में गजकरणी कहलाता है।३८।

**व्याख्या**—शंखिनी नाड़ी का मार्ग कण्ठ पर्यन्त है, उसी से अपान वायु ऊपर उठकर कण्ठ नाल से पहुँचता है और यह क्रिया 'उदरस्थ' पदार्थ का उद्वमन करने में सहायक होती है। इसके क्रम से अभ्यास करने से शरीर का नाड़ीजाल वशीभूत हो जाता है।

**ब्रह्मदयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।**
**अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत्।।३६**

**यावद्बद्धो मरुद्देहेयावच्चित्तं निराकुंलम्।**
**यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः।।४०**

**टीका**—ब्रह्म आदि देवगण भी मरण-भय से वायु के अभ्यास में लगे रहते हैं, इसलिए प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि जब तक शरीर में प्राणवायु रुका हुआ है और विक्षेप रहित है और जब तक अन्तःकरण की वृत्ति भौंहों के मध्य में है, तब तक काल का भय कहाँ? ।३६—४०।

**व्याख्या**—मृत्यु का होना इतना अवश्यभावी है कि उसके भय से बचने के लिए ब्रह्मादि त्रिदेव या अन्यान्य देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहे आते हैं। इस प्रकार का कथन इसका संकेत करता है कि मृत्यु से बचने के लिए प्राणायाम अभ्यास को आवश्यक है क्योंकि प्राणाभ्यासी मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है।

शरीर में जब तक प्राण तब तक मृत्यु कैसी? उसका भय भी कैसा? और प्राणायाम के अभ्यास की सिद्धि होने पर शरीर में प्राण के पृथक् होने का भी भय नहीं रह सकता। अभिप्राय यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है।

# सुषुम्ना में सुख पूर्वक वायु प्रवेश कथन

**विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।**
**सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः।।४१**
**मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्य प्रजायते।**
**यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।४२**

टीका–विधिपूर्वक प्राणायाम के संयम से नाड़ी चक्र का शोधन होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख को भेद कर उसमें सुख पूर्वक प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना मध्य चलता है तब तक मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है और मन सुस्थिर होना ही मन की उन्मनी अवस्था होती है।४१।

व्याख्या–विधिपूर्वक प्राणायाम करने पर ही नाड़ियों का शोधन हो सकता है और नाड़ी शोधन हो जाने पर ही वायु का सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करना सम्भव है। इसलिए साधक को विधिवत् प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शोधन का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सुषुम्ना में वायु के चलने पर मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है।

मन के दृढ़ एवं स्थिर हो जाने पर ही उन्मनी अवस्था होती है। क्योंकि मन के स्थैर्य से खेचरी मुद्रा सिद्ध हो सकती है और खेचरी उन्मनी अवस्था। शांडिल्योपनिषत् में कहा गया है–

**तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवा।**

**पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।**
**तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत् ! ततोन्मनी भवति।**

अर्थात्–नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके जो साधक दोनों भौंहों को किंचित् ऊँचा रखता है, यह पूर्वाभ्यास का मार्ग है, इसमें क्षण भर में ही उन्मनी दशा हो जाती है। इसलिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे, उससे उन्मनी अवस्था होती है।

**तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुंभकान्।**
**विचित्र कुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात्।।४३**

टीका–कुम्भक की विधि के जानने वाले विद्वान् उस (उन्मनी अवस्था) की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के प्राणायामों को किया करते हैं। क्योंकि उन्हीं से अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है।४३।

व्याख्या–योग विद्या के विद्वान् उन्मनी दशा की उपलब्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के प्राणायामों को करते रहते हैं, क्योंकि प्राणायामों के द्वारा ही सब प्रकार की सिद्धि सम्भव है। योगशास्त्रों में प्राणायाम के महात्म्य की बहुत प्रशंसा की है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार–

**योगसिद्धो भवेद्योगी वायुर्गिजितेन्द्रियः।**
**अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्।।**
**अपमृत्युमपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।**

अर्थात्–वायु को जीतने वाला योगी जितेन्द्रिय, मिताहारी अल्पनिद्रा, तेजस्वी, बलवान् और योग विद्या से सिद्ध हो जाता

है। उसे अकाल मृत्यु का भय मिटाकर दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार और भी अनेक सिद्धियों का वर्णन हुआ है, जो प्राणायाम के अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती है।

## कुम्भक के भेद

**सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।**
**भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।।४४**

टीका–कुम्भक आठ प्रकार के होते हैं–(१) सूर्यभेदन, (२) उज्जायी, (३) सीत्कारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा, और (८) प्लाविनी।।४४।

व्याख्या–ग्रन्थकार ने कुम्भक के उक्त आठ भेद बताये हैं। परन्तु कुछ शास्त्रों में चार भेद ही माने हैं। उन्होंने आठ भेदों का चार भेदों में अन्तर्भाव कर दिया प्रतीत होता है। और किन्हीं विद्वानों ने सहित और केवल के भेद से दो प्रकार का कुम्भक बताकर सहित कुम्भक के चार भेद कहे हैं। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है–

**सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।**
**भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः।।**

अर्थात्–सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ कुम्भक किया जाता है।

**पुरकांते तु कर्तव्यो वंधो जालंधरामिधः।**
**कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः।।४५**

**टीका**–पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर नामक बन्ध किया जाता है तथा कुम्भक के अन्त होने पर और रेचक के पहिले उड्डियान बन्ध करना चाहिये।।४५।।

**व्याख्या**–हठयोग की सिद्धि में तीन बन्ध भी प्रमुख हैं–जलन्धर बन्ध, मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध। इस श्लोक में दो बन्धों का संकेत है जलन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध का। जलन्धर बन्ध कण्ठ का आकुंचन करके ठोड़ी को हृदय में लगा कर प्राणवायु का बन्धन करने से होता है और उड्डियान की सिद्धि प्रयत्नपूर्वक नाभि का पीठ से आकर्षण करने से होती है।

**अधस्तात्कुंचकेनाशु कंठसंकोचने कृते।**
**मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।४६**

**टीका**–कण्ठ का संकोचन करने तथा नीचे के प्रदेश से आकुंचन होने पर मध्य में पश्चिम वान से प्राणवायु ब्रह्म नाड़ी में पहुँच जाता है।४६।

**व्याख्या**–कण्ठ के संकोचादि के द्वारा जालन्धर बन्ध करके और नीचे के प्रवेश के आकुंचन से मूलबन्ध होने पर पीठ से नाभिदेश में प्राण के आकर्षण रूप उड्डियान बन्ध होता है, जिससे प्राण ब्रह्म नाड़ी में जा पहुँचता है। इससे यह जानने योग्य तथ्य है कि जिह्वा बन्ध के द्वारा प्राणायाम की सिद्धि होती है। आशय यह है कि वायु के उत्तेजन से ही धातुओं का हर्ष, कृशता और मुख पर प्रसन्नता आदि सभी लक्षण होते हैं, जिससे कि मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध निरर्थक होता है। परन्तु यदि जिह्वाबन्ध का ज्ञान न हुआ तो उक्त प्रकार से प्राणायाम का

किया जाना और तीनों बन्धों की विधि का ज्ञान गुरु से लेना चाहिए।

यह भी ज्ञातव्य है कि ठीक प्रकार से ज्ञात न किया हुआ मूलबन्ध अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है। मूलबन्ध के ठीक प्रकार न होने के लक्षण यह हैं कि मलावरोध, मन्दाग्नि, धातुओं का क्षय, नाद की मन्दता और मल का बकरी के मल के समान होना आदि से समझना चाहिए कि यह बिकार मूलबन्ध ठीक हो जाय तो इसके विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् धातुओं का ठीक प्रकार से पोषण, नाद का ठीक प्रकार उदय और अग्नि का दीपनादि होते हैं।

**अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत्।**
**योगी जराविमुक्तः संषोडशाब्दवयो भवेत्।।४७**

**टीका**—अपान वायु को ऊपर को उठाकर प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाय। इससे योगी वृद्धावस्था से विमुक्त और सोलह वर्ष की अवस्था वाला हो जाता है।४७।

**व्याख्या**—अपान को ऊर्ध्व और प्राण को अधः करने से प्राणायाम का मेलन होता है, जो कि कुण्डलिनी जागरण में बहुत उपयोगी है। साधक के लिए यह ज्ञातव्य है कि जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध के सिद्ध होने पर नाभि देश में जो उड्डियान बन्ध होता है उसकी सिद्धि स्वतः हो जाती है। इस उड्डियान बन्ध को आकर्षण बन्ध भी कहते हैं।

# सूर्यभेदन कुम्भक

**आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।**
**दक्षनाड्या समाकृष्य वहिःस्थं पवनं शनैः।।४८**

टीका—सुखद आसन पर बैठ कर योगी आसन को बाँये और दाँयी नाड़ी (पिंगला) से शरीर के बाहर विद्यमान वायु को धीरे-धीरे खींचता हुआ प्राणायाम को करे।।४८।

व्याख्या—यहाँ सूर्य भेदन प्राणायाम के विषय में कहा है। इसकी क्रिया इस प्रकार है कि प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर तथा गुरुदेव और इष्टदेव को प्रणाम पूर्वक दन्त धावन और भस्म धारण करके श्रेष्ठ कुटी मृदु आसन बिछाकर बैठे आसनों का अभ्यास करे तथा कुम्भक से पहले विपरीत करणी मुद्रा को करे। फिर जालन्धर बन्ध की सिद्धि के लिए कुम्भक से पहिले आचमन करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार पहले दिन दश प्राणायाम, दूसरे दिन पन्द्रह और तीसरे दिन बीस, इस प्रकार अस्सी प्राणायाम पर पहुँच जाय।

पहले चन्द्रसूर्य का क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे। फिर चित्त को स्थिर रखकर बन्ध करता हुआ सूर्य भेदन का अभ्यास करे। तत्पश्चात् उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्रि का क्रमशः अभ्यास करना चाहिए। इसके अनन्तर अन्य प्राणायाम करे, चाहे न करे।

मुद्राओं का अभ्यास और पद्मासन लगाकर नाद का अनुसन्धान करे और अभ्यास से उठने पर गर्म जल से स्नान

करना चाहिए। मध्याह्न में भी अभ्यास करने के पश्चात् कुछ समय विश्राम और फिर भोजन करे। अन्य योगियों को भी पथ्याहार के अपथ्य रूप आहार कभी न दे।

भोजन के अन्त में लौंग, इलायची या कर्पूर का सेवन करे। परन्तु बिना चूने का पान ही योगियों के लिए हितकर होता है। कुछ विद्वान् इन द्रव्यों का निषेध करते हुए कहते हैं कि भोजन के पश्चात् तो मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना ही उचित मानते हैं।

दिन को तीन घड़ी शेष रह जाने पर इसी प्रकार पुनः अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर सायंकालीन संध्या करे और आधी रात के समय पहिले के अनुसार अभ्यास करे। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास करना वर्जित है। क्योंकि भोजन के पश्चात् विपरीत करणी श्रेष्ठ नहीं मानी गई है।

**आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्।**
**ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः।।४६**

टीका—नखाग्र से केश पर्यन्त जब तक निरोध हो तब तक कुम्भक करे और फिर वाम नाड़ी (इड़ा) से धीरे-धीरे वायु का रेचन करे।४६।

व्याख्या—इसमें आशय यह है कि जितनी देर प्राणवायु को रोका जा सके, उतनी देर रोककर कुम्भक करे और वाम नासा पुट से उसे निकाल दे। परन्तु निकालने की क्रिया शनैः शनैः करनी चाहिए क्योंकि वेग से प्राणवायु के निकालने से शक्ति का

क्षय होता है।

परन्तु पूरक करना अथवा वायु का बाहर से खींचना वेग से किया जाय तो उनमें कोई हानि नहीं होती। कुम्भक में यथा शक्ति वायु का धारण करना चाहिए। जब वायु को रोकने में असमर्थ हो जाय तब उसका रेचन करे। क्योंकि शक्ति से बाहर किया जाने वाला वायु-निरोध शरीर के लिए हानि भी पहुँचा सकता है।

**कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।**
**पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम्।।५०**

टीका—यह उत्तम सूर्य भेदन कपाल का शोधन, बात दोष का नाश और कृमि दोष का हरण करने वाला है, इसलिए इसे बार-बार करना चाहिए।५०।

व्याख्या—सूर्यभेदन कुम्भक से मस्तक का शोधन होता है, जो कि योग की सिद्धि में अत्यावश्यक कर्म है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

**कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः।**
**चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च।।**
**पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्य भेद मुदाहृतम्।**

अर्थात्—कपालशोधन की क्रिया में वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इनसे चारों प्रकार के बात दोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं। इस सूर्यभेद कही जाने वाली क्रिया को बार-बार करे।

# उज्जायी कुम्भक

**मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।**
**यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।।५१**
**पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः।**
**श्लेष्मदोषहरं कंठे दाहनलविवर्धनम्।।५२**
**नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।**
**गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।।५३**

**टीका**—मुख को बन्द करके दोनों नासापुटों से वायु को धीरे-धीरे खींचे, जिससे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त परिपूर्ण हो जाय फिर पूर्ववत् कुम्भक करके वाम नासिका से रेचन करे। इससे कण्ठ में होने वाले कफ के दोष नष्ट होते और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नाड़ी-सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी नष्ट हो जाते हैं इस उज्जायी कुम्भक को चलते, फिरते, स्थिर रहते सदा करना चाहिए।५१–५३।

**व्याख्या**—उज्जायी कुम्भक से अनेक रोग नष्ट होते हैं। कफज विकारों के शमन करने अथवा उत्पन्न न होने देने में यह अत्यन्त प्रभावशाली है। घेरण्ड संहिता में भी कहा है—

**नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।**
**हत्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्।।**
**मुखं प्रक्षाल्य सम्बन्धं कुर्याज्जालन्धरं ततः।**
**अशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेद् विरोधतः।।**
**उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।**

न भवेत् कफ रोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्।।
आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः।।

अर्थात्—दोनों नासापुटों से बाह्य वायु का खींचे और भीतर के वायु को हृदय, कण्ठ से खींचकर कुम्भक द्वारा धारण करे। मुख का प्रक्षालन कर जालन्धर बन्ध करके निर्विघ्न रूप से यथा शक्ति वायु-धारण करे। यह उज्जायी कुम्भक करने से सभी कार्यों का साधन हो जाता है और कफ के रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा उत्पन्न नहीं होते (अथवा उत्पन्न हों तो नष्ट हो जाते हैं) इसलिए इस जरामरण नाशक उज्जायी का सदा साधन करना चाहिए।

# सीत्कारी कुम्भक

सीत्काङ् कुर्यातथा वक्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः।।५४
योगिनी चक्रसामान्य सृष्टिसंहारकारकः।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।।५५
भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमण्डले।।५६

टीका—सीत्कार अर्थात् सीत्कारी भी उसी प्रकार किया जाता है कि घ्राण से वायु का रेचन करे। इसके अभ्यास से दूसरा कामदेव ही हो जाता है। योगिनियों से सेवन करने योग्य और सृष्टि-संहार करने वाला होता हुआ साधक क्षुधा, तृषा,

निद्रा और आलस्य से अभिभूत नहीं होता। इससे शरीर का बल बढ़कर सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार करने वाला साधक भूमण्डल में योगियों का इन्द्र हो जाता है।५४—५६।

**व्याख्या**—इस क्रिया में वायु का रेचन नासिका पुटों द्वारा ही करना चाहिए, मुख से न करे। अभ्यास सिद्ध होने पर भी वायु का मुख के द्वारा निकालना बल को क्षीण करने वाला होता है।'घ्राणेनैव विजृम्भिका' का अर्थ यही है कि घ्राण अर्थात् नासिका से, विजृम्भण अर्थात् रेचन करे।

# शीतली कुम्भक

**जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम्।**
**शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः।।५७**
**गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तंक्षुधा तृषाम्।**
**विषाणि शीतली नाम कुम्भकेयं निहन्ति हि।।५८**

**टीका**—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर विद्वान् साधक पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक का साधन करे और नासिका रन्ध्रों से धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। इस शीतली कुम्भक से गुल्म, प्लीहा आदि रोग, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और विष नष्ट हो जाते हैं।५७—५८।

**व्याख्या**—काकी मुद्रा के समान मुख के होठों को करके उनके द्वारा वायु का आकर्षण करता हुआ नाक से रेचन करने की विधि कही। घेरण्ड सहिता में इस प्रकार कहा है—

**जिह्वयावायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।**

**क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः।।**
**सर्वदा साधयेद्योगी शीतली कुम्भकं शुभम्।**
**अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते।।**

अर्थात्—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर उदर भरे और कुछ देर कुम्भक करके दोनों नासापुटों से शरीर में अजीर्ण और कफ पित्त के विकार उत्पन्न नहीं होते।

## भस्त्रिका कुम्भक

**ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।**
**पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्।।५६**
**सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।**
**मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्।।६०**
**यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम्।**
**वेगेन पूरयेपिहृत्पद्मावधि मारुतम्।।६१**
**पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनःपुनः।**
**यथैव लौहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते।।६२**

टीका—दोनों पावों के तलुओं को दोनों जंघाओं के ऊपर स्थापित करके बैठे तो यह सभी पापों का नाश करने वाला पद्मासन होता है। भले प्रकार पद्मासन बाँधकर ग्रीवा और उदर को समान रखे तथा गुख का संयम करके नासिका के एक रन्ध्र से प्राण का रेचन करे। जैसे शब्द करता हुआ प्राण हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे और फिर वेग पूर्वक हृदय कमल तक वायु को पूरित करे। तत्पश्चात् वायु का रेचक

बार-बार वैसे ही करे, जैसे लोहार धौंकनी को चलाता है।५६–६२।

व्याख्या—पद्मासन लगाकर बैठने के पश्चात् भस्त्रिका कुम्भक होता है। क्योंकि पद्मासन सभी पापों को नष्ट करने वाला है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा' कहकर पद्मासन को ठीक प्रकार से लगाने का उपदेश किया।

**तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।**
**यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्।।६३**
**यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।**
**धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम्।।६४**
**विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।**
**वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।।६५**
**कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।**
**ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्।।६६**
**सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदनम्।**
**विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्।।६७**

टीका—वैसे ही बुद्धिमान साधक अपने शरीर में विद्यमान वायु का चालन करे और जब श्रम जान पड़े तब सूर्यनाड़ी (पिंगल) से पूरक करे। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य तीनों अंगुलियों से नासिका को मध्य में दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे और बाँयी नासिका से रेचक करे। यह प्रयोग वात, पित्त, कफ का नाशक और जठराग्नि का वर्धन करने तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखदायक और हितकारक तथा ब्रह्मनाड़ी के मुख पर विद्यमान कफादि को नष्ट करता

है। जो मात्र नाड़ी के मध्य में समुदभूत तीन ग्रन्थियों का भेदन करने वाला होने से भस्त्रा संज्ञक यह कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।६३—६७।

व्याख्या—जिस प्रकार वायु से उदर पूर्ण हो सके, उसी प्रकार अर्थात् यथाशक्ति सूर्यनाड़ी द्वारा पूर्ण करना चाहिए पूरक के पश्चात् अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठिका तीनों के द्वारा नासा पुट को दृढ़तापूर्वक रोकता हुआ कुम्भक करे उसमें मध्यमा और तर्जनी को न लगावे। फिर इड़ा नाड़ी से रेचकन करना चाहिए।

वाम नासापुट को दाँये हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका से रोककर दाँये नासापुट से धौंकनी के समान वेग पूर्वक रेचक, पूरक करे और जब श्रम का अनुभव हो तब उसी नासापुट से पूरक अँगूठे के द्वारा दाँये नासापुट का अवरोध कर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर बाँये नासापुट का रेचक करे। तदन्तर दाँये नासापुट को अंगुष्ठ से रोके और वामपुट से धौंकरनी के समान जल्दी-जल्दी रेचक-पूरक करे जब उससे श्रम हो तब नासापुट से पूरक करके अनामिका और कनिष्ठका से वामनासा को रोककर शक्तिभर कुम्भक कर दाँयी नासा से रेचक करे।

इस प्रकार की विधि से भस्त्रा कुम्भक होता है। इसकी अन्यान्य विधियाँ भी कही जाती हैं। उन सबका कथन अभीष्ट नहीं। घेरण्ड संहिता में कहा है—

**भस्त्रैव लौहकराणाँ यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।**
**ततो वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः।।**

**एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकः।**
**तदन्ते चालयेद्वायु पूर्वोक्त च यथाविधि।।**
**त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिका कुम्भकं सुधीः।**
**न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने।।**

**अर्थात्**—लोहार की धौंकनी से वायु भरने के समान नासिका द्वारा वायु को उदर में भरकर धीरे-धीरे चलावे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करता हुआ वायु का धारण करे। फिर धौंकनी से वायु बाहर निकालने के ही समान नाक से वायु को निकाले, विद्वानों ने इसी को भस्त्रिका कुम्भक कहा है। इसी प्रकार तीन बार करे तो किसी प्रकार का रोग और क्लेश नहीं होता तथा दिनों दिन आरोग्य वृद्धि होती है।

## भ्रामरी कुम्भक

**वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं**
**भङ्गीनादं रेचकं मंदमंदम्।**
**योगींद्राणामेवप्तभ्यासयोगा-**
**च्चित्ते जाता काचिदानंदलीला।।६८**

**टीका**—वेगपूर्वक भौंरे के समान मन्द-मन्द शब्द निकले, उस प्रकार के कुम्भक प्राणायाम करे अथवा शब्दमय प्राणायाम को मन्द-मन्द करे। इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यास से योगियों के चित्त को आनन्द की प्राप्ति होती है।६८।

**व्याख्या**—इसके अभ्यास से योगी के मन में अत्यन्त आनन्द की क्रीड़ा का अनुभव होने लगता है। इसके विषय में घेरण्ड

संहिता में विस्तृत विवेचन मिलता है। यथा—

**अर्धरात्रि योगी जन्तूनांशब्दवर्जिते।**
**कर्णोपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम्।।**
**ऋणयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गत शुभम्।**
**प्रथमं झिंझिनादं च वंशीनादं ततः परम्।।**
**मेघझर्झरभ्रमरी घण्टा कास्य ततः परम्।**
**तुरीभेरी मृदंगानि निनादानक दुंदुभिः।।**
**एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात्।**
**अनाहत् शब्दस्य तस्य शब्दस्य योध्वनिः।।**
**ध्वनेरन्तर्गतज्योतेतरन्तर्गतं मनः।**
**तन्मनोविलयंयाति तत्विष्णोः परमं पदम्।**
**एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात्।।**

अर्थात्—आधी रात व्यतीत होने पर जब जीव-जन्तुओं का शब्द सुनाई न दे, तब योगी हाथों के द्वारा कानों को बन्द करके पूरक और कुम्भक करे। इससे दाँये कान में अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झींगुर के बोलने का शब्द, फिर वंशीनाद, फिर मेघ, झर्झर, घण्टा काँसे, के पात्र तुरही, भेरी, मृदङ्ग, दुन्दुभि आदि के शब्द सुनने में आते हैं। हृदयस्थ शब्द की प्रतिध्वनि के मध्य साधक ज्योति को देखने लगता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है, इसमें मन का लय होने पर विष्णु का परमपद उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार भ्रमरी मुद्रा के सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धि होती है।

# मूर्च्छा कुम्भक

**पूरकांते गाढ़तरं वद्ध्वा जालंधरं शनैः।**
**रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।।६६**

**टीका**—पूरक प्राणायाम के अन्त में जालन्धर बन्ध को दृढ़ रूप से बांधकर प्राणवायु का धीरे-धीरे रेचन करे मूर्च्छना संज्ञक कुम्भिका सुखदायिनी तथा मनोमूर्च्छा न करने वाली है।।६६।।

**व्याख्या**—यह कुम्भक मन को आनन्द में ऐसा लीन कर देती है कि साधक को बाह्य विषयों की संज्ञा ही नहीं रहती। आशय यह है कि साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है कि देखने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि उसे मूर्छा आ गई है। इसमें भौंहों के मध्य मन को लय करने का निर्देश मिलता है। यथा-

**मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।**
**सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छासुखप्रदम्।**
**आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्।।**

**अर्थात्**—मुख के द्वारा वायु खींचकर कुम्भक करता हुआ साधक विषयों से मन को हटाकर भौंहों के मध्य में विद्यमान आज्ञाचक्र में लगावे और आज्ञाचक्र में विराजमान आत्मा में लय कर दे। इसे आनन्द लाभ कराने वाला सुखदायी मूर्च्छा कुम्भक कहते हैं।

## प्लावनी कुम्भक

**अन्तः प्रवतितोदारमारुतापूरितोदरः।**
**पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्।।७०**

टीका–शरीर के मध्य में प्रवृत्त उदार वायु से परिपूर्ण उदर वाला साधक अगाध जल में भी कमलपत्र के समान सुखपूर्वक तैरता है।७०।

व्याख्या–यह प्लाविनी संज्ञक कुम्भक है, जिसे सिद्ध कर लेने पर योगी को अथाह जल से परिपूर्ण जलाशय में भी तैरने या उसे पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

## प्राणायाम के भेद कथन

**प्राणायाम स्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।**
**सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः।।७१**
**यावत्केवल सिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।**
**रेचकं पूरक मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।।७२**

टीका–प्राणायाम तीन प्रकार का होता है–रेचक, पूरक और कुम्भक। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद हैं सहित और केवल। जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक के अतिरिक्त मुख पूर्वक वायु धारणा करने को केवल कुम्भक कहते हैं।७१–७२।

व्याख्या–रेचक अर्थात् भरी हुई वायु को निकालना, पूरक अर्थात् बाहर से वायु खींचकर शरीर में भरना और कुंभक अर्थात् भरी हुई वायु को शरीर में रोके रखना। इस प्रकार

प्राणायाम के यह तीन भेद अथवा तीन अङ्ग हैं। प्रारम्भ में तो इन तीनों के द्वारा ही अभ्यास करना होता है।

सहित और केवल के भेद से दो प्रकार के कुम्भक माने गये हैं। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

**प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः।**
**प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः।।**
**स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा।**
**यावत् केवल सिद्धिःस्यात् तावत् सहितमभ्यसेत्।।**

अर्थात्—प्राणनिरोध के विषय में कहते हैं कि शरीर में चलने वाले प्राण को वायु कहते हैं और जब वह वायु स्थिर हो जाती है तब कुम्भक कहलाता है। यह कुम्भक दो प्रकार का कहा है—सहित और केवल। जब तक केवल की सिद्धि न हो, तब तक सहित कुम्भक करते हुए अभ्यास करना चाहिए।

**प्राणायामोऽयमित्युक्तः सः वै केवलकुम्भकः।**
**कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते।।७३**
**न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते।**
**शक्तः केवलकुम्भकेन यथेष्टं वायुधारणात्।।७४**
**राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः।**
**कुँभकात्कुंडलीवेधः कुंडलीबोधतो भवेत्।।७५**
**अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धश्च जायते।**
**हठं विना राजयोगं राजयोगं बिना हठः।**
**न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तः समभ्यसेत्।।७६**

टीका—इस प्रकार कहे हुए केवल कुम्भक के सिद्ध होने

पर रेचक, पूरक प्राणायाम का वर्जन हो सकता है और तब उस योगी के लिए संसार में कोई दुर्लभ नहीं रहता। जो अपनी इच्छा के अनुसार वायु धारण कर सकता है वही केवल कुम्भक में समर्थ होता है। उसके द्वारा राजयोग पद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय नहीं। उस कुम्भक की सिद्धि से कुण्डली जाग्रत होती है और कुण्डली के जागरण से सुषुम्ना अनर्गल होती है तथा हठयोग की सिद्धि हो जाती है। हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। इसलिए दोनों की ही सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए ।७३–७६।

**व्याख्या**–सहित कुम्भक में पूरक और रेचक करना भी आवश्यक होता है। क्योंकि पूरक रेचक के सहित होने से ही उसे सहित कुम्भक कहते हैं। परन्तु जब केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब पूरक-रेचक नहीं करना होता और इस प्रकार की सिद्धि होने पर उसे तीनों लोकों की सभी वस्तुएँ, सभी ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं। अर्थात् इच्छा करते ही स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

इसी के द्वारा राजयोग की उपलब्धि होती है और इसी से मोक्ष मिल सकती है। क्योंकि इससे सिद्ध होने पर ही कुण्डलिनी को जाग्रत करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। जब कुण्डलिनी जागती है तब सुषुम्ना कफ आदि के बन्धन से मुक्त होकर, कुण्डलिनी को प्रविष्ट होने का मार्ग दे देती है। इससे हठयोग की भी सिद्ध हो जाती है।

राजयोग और हठयोग का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की सिद्धि असम्भव है। इसीलिए साधक को

दोनों के अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

**कुम्भकप्राणरोधांते कुर्यांच्चित्तं निराश्रयम्।**
**एवमभ्यासंयोगेन राजयोगपदं व्रजेत्।।७७**

**टीका**—कुम्भक से प्राण रोकने के अन्त में चित्त को निराश्रय करे। इस प्रकार अभ्यास करने से राजयोगपद की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या**—कुम्भक के द्वारा प्राण का निरोध करने पर समाधि अवस्था हो सकती है उस अवस्था का होने पर ही ब्रह्माकार स्थिति होती है, उसमें निराश्रय अर्थात् अनासक्त रूप से चित्त का लय कर देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से ही राजयोगपद मिल सकता है।

**वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता**
**नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।**
**अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं**
**नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्।।७८**

**टीका**—शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद का प्राकट्य नेत्रों में स्वच्छता, रोग का अभाव, बिन्दु का क्षय, अग्नि का दीपन और नाड़ी-शुद्धि, यह हठयोग के लक्षण हैं।७८।

**व्याख्या**—ग्रन्थकार का मत है कि हठयोग की सिद्धि हो जाने पर उक्त उपलब्धियाँ अनायास ही हो जाती हैं, उनके लिए साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना होता।

**।।हठयोग प्रदीपिका का द्वितीय उपदेश समाप्त।।**

# तृतीयोपदेश

## कुण्डली–बोध

**सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।**
**सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।१**

**सर्वेषा**–जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है।

**व्याख्या**–श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों को आश्रय स्वरूपा है। जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है। आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण बिना योग के सभी उपाय निष्फल रहते हैं।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है। कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीनों लोकों की तीन पृथिवी हुई, इसलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

**सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुन्डली।**
**तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।२।**

# सुषुम्ना के पर्याय कथन

**प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते।**
**तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य बंचनम्।।३**

**टीका**—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्र होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर दे है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जा है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन हो है।२—३।

**व्याख्या**—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए गु प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बत हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त क लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ व वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती हैं। उसी के लिए शू पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण व सुखपूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल व बन्धन भी नष्ट हो जाता है अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहत

**सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथम्।**
**श्मशान शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचका:।।४**
**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।**
**ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।५**

**टीका**—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्

और मध्य मार्ग एक अर्थ के बाचक हैं। इसलिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस ईश्वरी को जाग्रत करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।४–५।

**व्याख्या**–सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है–सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

**महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।**
**उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालं धराभिधः।।६**
**करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।**
**इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्।।७**
**आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।**
**वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभंमरुताभपि।।८**

**टीका**–महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएँ आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं। जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ हैं।६-८।

**व्याख्या**–ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की

प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

**गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम्।**
**कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।६।।**

**टीका**—यह सभी मुद्राएँ रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार की कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता है।६।

**व्याख्या**—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावें। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करें।

# महामुद्रा कथन

**पादमूलेन वामेन योनि संपीड्य दक्षिणम्।**
**प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम्।।१०**
**कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।**
**यथा दण्डहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते।।११**
**ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।**
**तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।।१२**

**टीका**—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाँए पांव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण

करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दण्ड से मारे हुए के समान दण्डे के आकार का हो जाता है वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणावस्था जैसी हो जाती है।१०–१२।

व्याख्या–यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि-स्थान को दबाने और दाए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अँगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्ध न करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है। इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डंडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती हैं और प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इड़ा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

**ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।**
**महामुद्रां च तेनैव बन्दति विबुधोत्तमाः।।१३**
**इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।**
**महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।।**
**महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।१४**

टीका–उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे।

श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महानुद्रा कहते हैं।१३–१४।

**व्याख्या**–उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्याअस्मिता, रोग द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

# महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

**चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्।**
**यावत्तल्ला भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।१५**

**टीका**–चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन कर दे।१५।

**व्याख्या**–चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार

अभ्यास करते रहें और समान होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है–

**पायुमूल वामगुल्फ सम्पीड्य दृढ़ यत्नतः।**
**याम्यपादं प्रसार्यांथ करेधृत पदांगुलः।।**
**कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।**
**महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।**

अर्थात्–गुह्य प्रदेश का बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबावे और बाँये पाँव को फैलाकर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सिकोड़ कर भौहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

**न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।**
**अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति।।१६**

**टीका**–इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है।१६।

**व्याख्या**–महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान पलने योग्य अन्न भी पच जाता है। जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशकम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।१७
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम्।
गोपनीय प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।१८

टीका—इसके अभ्यास से क्षय कुष्ठ, उदावर्त गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे।१७–१८।।

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

## महाबन्ध कथन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।१९
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिवुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत्।।२०
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत्।।२१
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति।।२२
अयं तु सर्वनाड़ीनामूर्ध्व गतिनिरोधकः।

**अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः।।२३**

**टीका**—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दांया पांव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मन को नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार बाँए अंङ्ग में समान रूप से अभ्यास करके दाँये अङ्ग में करना चाहिए। अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध के कण्ठ के संकोचन को न करे क्योंकि राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है।१६—२३।

**व्याख्या**—बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालंधर बन्ध होता है उसे करके योनि संकोचन करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना आवश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अङ्ग में और फिर दक्षिण अङ्ग में करें। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही

कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर कहलाता है।

**कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।**
**त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रपयेन्मनः।।२४**

**टीका**—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है।२४।

**व्याख्या**—जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदार प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

**रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।**
**महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितो।।२५**

**टीका**—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं।२५।

**व्याख्या**—इस लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की महावध के बिना निकृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

# महावेध वर्णन

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधोः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया।।२६
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।।२७
सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत्।।२८
महाबेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलोपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।२६

टीका–महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों का पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इड़ा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः इड़ा पिंगला की ओर सुषुम्ना से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं।२६–२६।

व्याख्या–महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के

ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इड़ा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और इड़ा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विवेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्वोपनिषद् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है–

वायुना गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्तेऽनिशम्।।

अर्थात्–वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते हैं।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमाविगुणप्रदम्।।३०
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधाययि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।।३१

टीका—उक्त तीनों मुद्राएँ परम गुह्य एवं जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों को देने वाली है। यह मुद्राएँ प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए।३०—३१।

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि प्रदीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इसका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

# खेचरी मुद्रा

**कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।**
**भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी।।३२**
**छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।**
**सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।३३**

टीका—कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौंहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है।३२—३३।

**व्याख्या**–जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। वेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढ़ावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ में अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँये दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

**स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।**
**समादाय समस्तेनरोममात्रं समुच्छिनेत्।।३४**
**ततः सैधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।**
**पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रे समुच्छिनेत्।।३५**
**एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।**
**षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति।।३६**

टीका–सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरण के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध

नष्ट हो जाता है।३४–३६।

व्याख्या–इन श्लोकों से खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धारण होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधा नमक और हरड़ का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत जारी रखें।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके काटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

**कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।**
**सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।।३७**
**रसनामूर्ध्वगाँ कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।**

**विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।।३८**

**टीका**—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर उसे उलटे पीछे की ओर लौटाकर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। यह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है।३७–३८।

**व्याख्या**—कपाल-रन्ध्र, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

**न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।**
**न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।३९**
**पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।**
**बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।४०**

**टीका**—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु तन्द्रा, निन्द्रा, क्षुधा, और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता।३९–४०।

**व्याख्या**—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसें भूख प्यास रोग, निन्द्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है

सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फल रूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होते। आशय यह है कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़ और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

**चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।**
**तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।।४१**

टीका–जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है।४१।

व्याख्या–इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

**खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।**
**न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च।।४२**
**चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलं।**
**व्रजत्यूद्ध्र्व हृतः निबद्धो योनिमुद्रया।।४३**
**ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।**
**मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित्।।४४**

टीका–खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन

से खिंचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है।४२–४४।

व्याख्या–खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय तो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिंच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

**नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।**
**तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति।।२५**
**इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः।**
**तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति।।४६**

टीका–जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल वत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता।४५–४६।

व्याख्या–ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है

अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझती है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

**गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।**
**कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः।।४७**
**गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।**
**गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशकम्।।४८**
**जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।**
**चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी।।४६**

**टीका**—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर

में जिह्वा के प्रवेश से सम्भूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है।४७–४६।

**व्याख्या**–योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवरण में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोमांस भक्षण है इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करता है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है?

**चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी।**
**साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।**
**व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं**
**तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम्।।५०**

**टीका**–यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटुअम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक को

सभी व्याधियों का हरण, बृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है।५०।

व्याख्या–जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु, आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

**मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-**
**दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परा चिंतयन्।**
**उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-**
**न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति।।५१**

टीका–जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी देहवाला होता हुआ तक जीवित रहता है।५१।

व्याख्या–जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरञ्जीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं

होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाता है।

**यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुधर्मातरस्थं**
**तस्मिस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।**
**चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां**
**सद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः।।५२**

**टीका**–जिसमें यह प्रालेय स्थित है, उस छिद्र में रजतम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख हैं तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी, मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता।।५२।।

**व्याख्या**–प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है जिन मनुष्यों की वृद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानि केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत की जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास कर ले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

**सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।**
**तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने।।५३**

**एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।**
**एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी।।५४**

टीका–नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरंजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है।५३–५४।

व्याख्या–इड़ा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पंच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणव है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षरमिदं सर्व तस्योपख्यान भूत भवद्‌भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है, उसी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है।

एक मुद्रा खेचरी कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

# ओड्डीयान बन्ध वर्णन

**बद्धो येन सुषुम्नायाँ प्राणस्तूड्डीयते यतः।**
**तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।५५**
**उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः।**
**उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते।।५६**

**टीका**–जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्ड़ीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं।५५–५६।

**व्याख्या**–जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उड़ाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते अर्थात् 'उड़ान करती हैं' इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

**उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।**
**उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातङ्गकेसरी।।५७**
**उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।**
**अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।५८**

**टीका**–उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है।५७–५८।

**व्याख्या**–उदर में स्थित टूडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं, क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

**नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।**
**षण्मासमभ्येन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।५९**
**सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।**
**उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।६०**

**टीका**–नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है।५९–६०।

**व्याख्या**–उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात् आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार के मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी यही विदेह मुक्ति कहलाता है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति

होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां०उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

# मूलबन्ध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।६१
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।६२

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।६१–६२।

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सिकोड़े और अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करे। वह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते।।
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुनाहता।।

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन

द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

**गुदं वाष्ण्यर्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्।**
**वारं वारं यथा चोर्ध्व समायाति समीरणः।।६३**

**टीका**—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन कर बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे।६३।

**व्याख्या**—मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कहीं हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इनका उल्लेख यहाँ हुआ है।

**प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धन चैकताम्।**
**गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः।।६४**
**अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयाः।**
**युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।६५**
**अपाने ऊर्ध्वगे जाते सम्प्राप्ते वह्निमंडलम्।**
**तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता।।६५**

**टीका**—अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण को ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि-मण्डल में पहुँचने पर वायु में

ताड़ित होने के कारण अग्नि-शिखा दीर्घ हो जाती है।६४-६६।

**व्याख्या**—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है। अर्थात् वली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुच जाता है अर्थात् नाभि में नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिरा बढ़ जाती है।

**यतो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।**
**तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।६७**
**तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।**
**दंडाहता भुजङ्गीध निश्वस्य ऋजुताँ व्रजेत्।।६८**

**टीका**—तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिंखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदाप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर डण्डे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है।६७-६८।

**व्याख्या**—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग

में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में जाकर प्राणवायु से मिलकर सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

**विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं ब्रजेत्।**
**तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।६६**

टीका–फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए।६६।

व्याख्या–इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

## जालन्धर बन्ध

**कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्!**
**बंधो जलंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।७०**
**बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम्।**
**ततो जालन्धरो बन्धः कंठदुःखौघनाशनः।।७१**
**जालंधरे कृते बन्धे कंठसंकोचलक्षणे।**
**न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।७२**

**कंठसंकोचेनेनैव द्वे नाड्यो स्तंभयेद्दृढम्।**

**मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।।७३**

**टीका**—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह मृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसीलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कण्ठ के रोग दुःखों का नाश करने वाला है जिस कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़ता पूर्वक कष्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्त्ता मध्य चक्र जानना।७०—७३।

**व्याख्या**—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यंभावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुन्डल्युपनिषत् में कहा है—

**पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।**
**कण्ठ संकोच रूपोऽसा वायुमार्ग निरोधकः।।**
**अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ-संकोचने कृते।**
**मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।**

**अर्थात्**—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कंठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है।

अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का संकोच तथा मध्य में उड्डियान बन्ध द्वारा प्राण को खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कंठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तंभन स्वतः हो जाता है। कंठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्ध करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

**मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत्।**
**इडाँ च पिंगलाँ बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि।।७४**
**अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम्।**
**ततो न जायते ह्रत्युर्जरारोगादिकं तथा।।७५**
**बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।**
**सर्वेषा हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः।।७६**

टीका—मूल स्थान को भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इड़ा, पिङ्गला का स्तम्भन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है तब रोग जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं।७४–७६।

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उड्डियान) को करना चाहिए

तथा कंठ के संकोच से इड़ा-पिङ्गला का बन्धन करे जो कि जालन्धर बन्ध से होता है तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर, परम सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को यत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

**यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।**
**तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः।।७७**
**तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।**
**गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थाकोटिभिः।।७८**

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिए सूर्य मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है।७७–७८।

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु

नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उसे अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिए सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्‌गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

# विपरीतकरणी मुद्रा

**ऊर्ध्व नाभेरधस्तालोरूर्ध्व भानुरधः शशी।**
**करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।७६**
**नित्यमभ्याससक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।**
**आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च।।८०**

टीका—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में ताल हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य अधोभाग कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगी के लिये यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने

वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है।७६–८०।

**व्याख्या**–इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर और नीचे पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि–

**अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।**
**अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।।८१**
**क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।**
**वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्व न दृश्यते।।**
**याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्।।८२**

**टीका**–यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पाँव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में बली पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है।८१–८२।

**व्याख्या**–अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक को जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती हैं। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ातें हुए अभ्यास करना चाहिए। इसमें केशों का श्वेत होना झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

# वज्रोली मुद्रा

**स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।**
**वज्रोलिंयो विजानाति सयोगी सिद्धिभाजनम्।।८३**
**तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।**
**क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी।।८४**
**मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।**
**पुरुषोऽत्रथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।८५**
**यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे।**
**शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्।।८६**

**टीका**—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योगशास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएँ हैं उन्हें मैं वताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने

से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्न पूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूँक मारते हैं।८३-८६।

**व्याख्या**—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता हैं, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिये दूध और स्त्री दुर्लभ वस्तु है। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते हैं कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात् निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्धपान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधन के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के लिए उसके ऊपर आकुचन का अभ्यास करना चाहिए। योगतत्त्वोपनिषत् में कहा है—

**वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।**
**लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।**
**अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।**

**अर्थात्**—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त कर ले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता

हो जाता है और उसे आकाश गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करें। प्रथम दिन केवल एक अँगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अंगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढ़ी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढ़े और ऊर्ध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध हो जाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए, बस इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

**नारीभगे पतिद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत्।**
**चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।८७**
**एवं संहक्षयेद्बिंदुं मृत्यु जयति योगवित्।**
**मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।८८**

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्विंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः।।८६
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैवं रक्षणीयं प्रयत्नतः।।६०
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं सम्यगभ्यासयोगवित्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्।।६१

**टीका**–योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यृ को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ्र द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है।८७–६१।

**व्याख्या**–पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक में पुनः स्थापन करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं व जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल रोग-ग्रस्त और शक्तिहीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

**सहजोलिश्चामामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।**
**जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम्।।९२**
**वज्रोलीमैथुनादूर्ध्व स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।**
**आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।।९३**
**सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रसुया योगिभिः सदा।**
**अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।९४**
**अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनाम्।**

**निर्मत्सराणा सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम्।।६५**

**टीका**—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद हैं। जलाये हुए कण्डों की भस्म को जल में डाल दे और मैथुनान्तर सुखपूर्वक बैठे हुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अङ्गों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यदि योग पुण्यवान्, धीरे, तत्वदर्शी और द्वेष रहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता।।६२—६७।।

**व्याख्या**--वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएँ भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते हैं इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करे। वज्रेली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

# अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वधत्वात्प्रथमाँ विहाय निः सारताँत्यधारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमर्तेऽवरोली।।६६

अमरी यः पिवेन्नित्यं नसयं कुर्वन्दिनेदिने।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते।।६७

अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारेयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते।।६८

टीका—अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सारअंश-रहित अन्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया ज़ाता है, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज़्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृंत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसकी दिव्य दृष्टि हो जाती है।६६—६८।

व्याख्या—प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः-शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवाबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु पात न करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिए, निकृष्ट अङ्गों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। दिव्य दृष्टि प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालक मत में अमरोली कहलाती है

# नारी की वज्रोली के साधन कथन

**पुंसो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्।**
**यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनि।।९९**
**तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः।**
**तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति।।१००**

**टीका**—सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता इसमें संशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिंदु रूप हो जाता है।९९–१००।

**व्याख्या**—इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर बिन्दुरूप हो जाता है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर के

ब्रह्मा संयोग होने से संतानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आंतरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में चन्द्रमय और रज सूर्यमय है इनका योग होने से परमपद की प्राप्ति होती है।

**स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।**
**वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः।।१०१**
**रक्षेदा कुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।**
**अतोतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।१०२**
**देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासंयोगतः।**
**अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः।।१०३**

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री-योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती हैं। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह-सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है।१०१—१०३।

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होती हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

# कुन्डलिनी के पर्याय कथन

**कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंङ्गी शक्तिरीश्वरी।**
**कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।।१०४**

**टीका**–कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुंडली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं।१०४।

**व्याख्या**–यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

**उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।**
**कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।१०५**
**येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।**
**मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।१०६**
**कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।**
**बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।१०७**

**टीका**–जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढ़ककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन प्रद हो जाती है, जो उसे

जानता है वही योग का जानने वाला है।१०५–१०७।

**व्याख्या**–कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

**कुंडलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।**
**प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति व वेदवित्।।**

**-योगचूड़ामन्युपनिषत्**

**अर्थात्**–प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

**कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।**
**सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः।।१०८**
**गङ्गायमुनयोर्मध्ये वालरंडा तपस्विनीम्।**
**बलत्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।।१०९**
**इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।**
**इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली।।११०**

**टीका**–कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गङ्गा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है,

उसे बलपूर्दक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इड़ा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही वालरण्डा है।१०८–११०।

**व्याख्या**—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डली मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गङ्गा, यमुना कहकर यहाँ इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इड़ा नाड़ी गङ्गा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती हैं। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

# शक्ति चालन मुद्रा

**पुच्छे प्रगृह्य भुजंगी सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।**
**निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।१११**

**अवस्थिता चैव फणावती सा**
**प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।**
**प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य**
**नित्यं परिचालनीया।।११२**

**ऊर्ध्व वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।**
**मृदुलं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।**

मृदुलं धाववलं प्रोक्तं वेष्टितांवरलक्षणम्।।११३
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धान्येद्दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्।।११४
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।११५

टीका–सोती हुई भुजंगी की पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल साँयकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से पूरित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से विलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों की ऐड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीड़न करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत करे।१११–११५।

व्याख्या–पूँछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घन्टे निन्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर यानी नाभि-स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसंहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की

जो योनि है, वही पक्षी के अन्डे के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्नहोकर शरीर के सभी अगें में गई हैं। वह कन्द स्थान कोमल और उज्ज्वल वस्त्र के समान एक बिलाँद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करें अन्य आसन न करें।

**भानोंराकुंचनं कुर्यात्कुंडली चालयेत्ततः।**
**मृत्युवक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।११६**
**मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।**
**ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता।।११७**
**तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।**
**जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।।११८**

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुण्डली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिंचती है। वैसा होने पर वह कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है।११६—११८।

**व्याख्या**–नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का अकुंचन होता जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त्त तक करने से ही कुंडलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिंचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इस लिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुंडलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम्' (ब्र.वि.उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्र मण्डल का भेदन करे। योगकुन्डल्युपनिषत् में कहा है–

**अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठ संकोचने कृते।**
**मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।**

**अर्थात्**–अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कंठ का संकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

**तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम्।**
**तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।।११६**
**येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।**
**किमत्र वहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।।१२०**

**टीका**–इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुख पूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का

चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है।११६–१२०।

**व्याख्या**–सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। मृत्यु भी उसका कुछ विगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीड़ा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

**ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।**
**मंडलाददृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः।।१२१**
**कुन्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेततः।**
**एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।।१२२**

**टीका**–जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डप में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुंडली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ? ।१२१–१२२।

**व्याख्या**–ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्यास करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनै-शनै काल कवलित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती है।

'मण्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिणाम को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुण्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मण्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते हैं। अर्थात् उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम परायण रहता है, अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसको साधन में कितने ही विघ्न क्यों न आकार उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

**द्वासप्ततिसहस्त्राणाँ नाडीनां मलशोधने।**
**कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते।।१२३**
**इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।**
**आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत्।।१२४**

टीका—कुण्डलिनी के अभ्यास बिना बहत्तर हजार नाड़ियां मल शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या है? यह मध्य नाड़ियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है।१२३–१२४।

**व्याख्या**—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल में भरी रहती हैं। परन्तु कुण्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिये श्लोक में कुंडलिनी चालन के अभ्यास का कर्त्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इड़ा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

**अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धत्वा समाधिना।**
**रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति।।१२५**

**टीका**—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएँ कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती है।१२५।

**व्याख्या**—अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित्त की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। लक्ष्येऽन्तर्वाह्यां दृष्टौ निमेषोन्मेवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी

मुद्रा होती है। 'और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है।

**राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।**
**राजयोगं बिना मुद्रा विचित्रापि न शोभते।।१२६**

**टीका**–राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा-विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती।१२६।

**व्याख्या**–इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात् आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात् महामुद्रा आदि सभी निरर्थक है।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणनिरोध तब तक निष्फल है जब तक की चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्त्व किसी उपयोग का नहीं।

मारुतस्य विधिं सर्व मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृतिर्मनीषिणा।।१२७
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।१२८

**टीका**–वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगाकर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक भी मुद्रा भी यमी (योगी, के लिए महासिद्धि देने वाली हो सकती है।१२७–१२८।

**व्याख्या**–प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्तव्य है कि वह मन को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दें। ऊपर जो दश मुद्राएँ कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

## सद्‌गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।१२६
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम्।।१३०

टीका–मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और काल के वंचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।१२६–१३०।

व्याख्या–सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारम्भ हुआ था। उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्‌गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है। अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए। गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, सात ही वह मृत्यु के उल्लंघन में भी समर्थ होता है।

।।हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त।।

# चतुर्थोपदेश

# समाधि वर्णन

**नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्तने।**
**निरंज़नपदं याति नित्यं यत्र परायशः।।१**
**अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम्।**
**मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम्।।२**

**टीका**—शिवरूप गुरु को नमस्कार है, जो कि नाद, बिन्दु कलारूप हैं। उनके नित्य परायण रहने से निरञ्जन पद को प्राप्त होता है। इस अवसर पर मैं समाधि के श्रेष्ठ क्रम को कहता हूँ, जो कि सुख का उपाय रूप मृत्यु का नाशक और परम ब्रह्मानन्द का कर्त्ता है।१–२।

**व्याख्या**—गुरु अपनी प्रसन्नता और उपदेश के द्वारा सभी विघ्नों का हरण करने में समर्थ है। इसीलिए विघ्नों की आशंका करता हुआ ग्रन्थकार चतुर्थ उपदेश प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु को ईश्वर रूप मानकर उनको नमस्कार करता है।

गुरु का नाद, बिन्दु, कला रूप से विद्यमान कहा है। काँसी के घण्टा के समान शब्द नाद, अनुस्वार के पश्चात् होने वाली ध्वनि बिन्दु और नाद का एक देश कला कहलाता है। यह तीनों ही शिवरूप माने गये हैं। इसलिए शिवरूप गुरु में परायण साधक नादानुसंधांन में परायण रहता हुआ मायोपाधि रूप निरंजन शुद्ध ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय श्लोक में समाधि के वर्णन की प्रतिज्ञा निहित है।

यह समाधि क्रम आदिनाथ द्वारा वर्णित्, समाधि के सभी भेदों में श्रेष्ठ है इसमें मृत्यु का निवारण होना व्यक्त किया है जिसका अभिप्राय है कि शरीर त्यागने की इच्छा होने पर ही मृत्यु हो सकती है। अथवा उत्पत्ति और मन-वासना का नाश होने पर जीवन्मुक्तिरूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार 'मृत्युघ्न' कहना सार्थक है।

ब्रह्मानन्दकरं परम' का आशय है कि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर जब जीवात्मा-परमात्मा के अभेद का ज्ञान होने पर आत्यन्तिक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष हो जाता है, यही ब्रह्मानन्द है। श्रुतियों में भी यही कहा कि आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी जीवित रहता हुआ भी हर्ष-शोक से मुक्त रहता है। इस प्रकार निर्विकार रूप में अवस्थिति रूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

प्राप्त हुए भोगों के अनन्तर अन्तःकरण के गुणों की अधिकता होने पर औपाधिक रूप की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। तब प्रति प्रसव से आत्यन्तिक रूप में अवस्थान सिद्ध होता है। तथा व्युत्थान का निरोध और समाधि का संस्कार मन में लीन हो जाते हैं, मन अस्मिता में लय को प्राप्त हो जाता है। अस्मिता महान् में लय होता है और महान् का लय प्रधान में होता है इस प्रकार अपने-अपने कारण में सभी कार्य लय को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञात हुए आत्म तत्त्व का यथार्थ निश्चय होता है और अतात्विक अन्यथा भाव अधिकारता का अप्रयोजक रहता है। मनुष्य को जो अन्तःकरण रूप समाधि से

मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय या वैश्य आदि हूँ, ऐसा व्यवहार होता है, वह तात्विक नहीं है। इस प्रकार निज स्वरूप अवस्थिति के समान अन्तःकरण की सब वृत्तियों के निरोध से निजस्वरूप में विद्यमानता की समाप्ति नहीं रह सकती इसका आशय यह है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था होने पर साधक की स्थिति ब्रह्मरूप में रहती है और ग्रन्थकार के अनुसार यहीं परम गुरु ब्रह्मानन्द को उत्पन्न करने वाली अवस्था है जो शिवरूप की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।

शास्त्र का वचन है कि–

**यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।**
**तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः।।**

अर्थात्–जैसे घट, कलश और कुम्भ एक ही अर्थ के वाचक हैं, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु भी एक तत्व के काम हैं।

**राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्तरी।**
**अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम्।।३**
**अमरत्वं तथाद्वैतं निरालंबं निरञ्जनम्।**
**जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।।४**

**टीका**–राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व लय तत्व शून्याशून्य परमपद अमनस्क अद्वैत निरालम्ब निरंजन जीवन्मुक्ति सहजा और तुर्या–यह सब एक के ही वाचक हैं।३–४।

**व्याख्या**–उपर्युक्त सभी नाम एक समाधि के ही के हैं।

आगे इन पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है–

**सलिलै सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।**
**तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।५**
**यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।**
**तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते।।६**
**तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।**
**प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते।।७**

टीका–जैसे जल और सैंधव मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन ऐक्य समाधि कहलाता है, जब प्राण समान रूप से क्षीण होता और मन भी लीन हो जाता है तब वह समरसता समाधि कही जाती है। उसी के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ऐक्य होने पर सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं, मन समाधि अवस्था कही जाती है।५–७।

व्याख्या–जल में नमक डाल दें तो नमक घुलकर जल रूप हो जाता है और तब नमक का पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं देता, वैसा ही मन का आत्मा में लय हो जाने पर समाधि की अवस्था हो जाती है।

आत्मा में धारण किये मन का आत्मा में तादात्म्य होने पर आत्मा और मन का वह ऐक्य भी समाधि है। उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा के तादात्म्य में समाधि होती है। अन्नपूर्णोपनिषत् में भी यही कहा है–

**समाधि संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।**
**नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।।**

**यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।**

**एकीभूतः परेणासो तदा भवति केवलः।।**

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है, क्योंकि आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और निर्दोष है। समाधि में रहकर जब सर्वभूतों को नहीं देखता, वरन् परमात्मा के साथ एक रस हो जाता है, तब वह केवल परब्रह्म ही हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जीव-ब्रह्म की एकता का भाव ही समाधि है।

# राजयोग प्रशंसा

**राजयोगस्य महात्म्यं को वा जानाति तत्वतः।**

**ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते।।८**

**दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।**

**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।।९**

**विविधैरासनैः कुंभर्विचित्रैः करणैरपि।**

**प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते।।१०**

टीका—राजयोग के माहात्म्य को तत्वरूप से कौन जानता है? ज्ञान मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति गुरु के उपदेश से ही होती है। जब तक सद्गुरु की कृपा न हो, तब तक विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्वज्ञान दुर्लभ है और सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। विविध प्रकार के आसन, विचित्र प्रकार के कुम्भक और करण आदि के द्वारा महाशक्ति के प्रबुद्ध होने पर प्राण शून्य में लीन हो जाता है।८—१०।

व्याख्या–राजयोग की प्रशंसा करते हुए ही ग्रन्थकार ने "को वाजानाति तत्वतः" कहा है। इसका आशय यह है कि राजयोग के माहात्म्य को कोई भी नहीं जानता, केवल गुरु ही जान सकते हैं क्योंकि आत्मज्ञान, विदेह मुक्ति, स्थिति अर्थात् निर्विकार रूप में अवस्थिति रूप जीवन्मुक्ति और अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती हैं।

इन्द्रियों के विषय अत्यन्त प्रबल होते हैं, उनकी निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, परन्तु गुरु की कृपा हो तो उनके उपदेश से विषयों से विरक्ति हो सकती है। 'तत्व दर्शन' का आशय है आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव यह तो बहुत ही कठिन है, परन्तु सद्गुरु की कृपा से वह भी सुलभ हो जाता है।

सहजावस्था की प्राप्ति भी कोई सरल कार्य नहीं है। सहजावस्था का अर्थ है तुरीयावस्था। यदि सद्गुरु को प्रसन्न कर लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि साधक को इस अवस्था की उपलब्धि न हो जाय।

विविध प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास गुरु की कृपा से ही सिद्ध होता है और उसके फल स्वरूप कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। उसके जागने पर ही प्राणवायु का शून्य में लय होना सम्भव है। शून्य का तात्पर्य ब्रह्मरन्ध्र से और प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना सद्गुरु की कृपा से सुगम हो जाता है।

**उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।**
**योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते।।११**

**सुषुमनावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।**
**तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्।।१२**

**टीका**—शक्ति-बोध की उत्पत्ति और सर्व कर्मों का त्याग होने पर योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होता और मन शून्य में चला जाता है, तब योग का ज्ञाता साधक अपने सब कर्मों को निर्मूल कर लेता है।११—१२।

**व्यवस्था**—सब कर्मों का त्याग और कुण्डलिनी का जागरण सहजावस्था की प्राप्ति में सहायक होता है। साधक जब आसन लगाकर बैठता है तब शरीर के व्यापार का त्याग हो जाता है और उस व्यापार की विद्यमानता प्राण और इन्द्रियों में रही आती है। प्रत्याहारादि से मन का व्यापार भी छूट जाता है, परन्तु बुद्धि का व्यापार बना रहता है, जिसका अभाव छूट जाता है, परन्तु बुद्धि का व्यापार बना रहता है, जिसका अभाव श्रेष्ठ वैराग्य से ही हो सकता है। फिर भी कुछ रह जाता है तो समाधि के अभ्यास के प्रबलता उसे निर्मूल कर देती है और तब जिस निर्विकार स्वरूप में स्थिति होती है, वही सहजावस्था होती है।

जब कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर प्राणवायु भी सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है, तब मन का प्रवेश देश, काल और वस्तु के परिच्छेद आदि से शून्य, ब्रह्म में होता है, जिससे योग का जानने वाला साधक चित्त का निरोध करता हुआ अपने सभी कर्मों को समूल नष्ट कर डालता है। यही इसका आशय है।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्।।१३
चित्ते समत्वमापन्ने वायोः व्रजति मध्यमे।
तदामरौली वज्रोली सहजोली प्रजायते।।१४

टीका—उस अमर को नमस्कार है, जिसने उस काल को भी जीत लिया है, जिसके मुख में यह चराचर जगत् पड़ा हुआ है। जब चित्त समत्व को प्राप्त हो जाता है और वायु सुषुम्ना में पहुँच जाती है, तब अमरोली, वज्रोली, सहजोली मुद्राएँ सिद्ध होती हैं।१३–१४।

व्याख्या—योगी पुरुष सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब अमर हो जाता है, वह दुःख के घोर कारण रूप काल को भी जीत लेता है। चराचर रूप यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी काल के मुख में पड़ा हुआ है, परन्तु योगी पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं है।

टीका—अमरोली, वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राओं की सिद्धि समाधि के सिद्ध होने पर स्वयं ही सिद्ध होजाती हैं। अन्तःकरण रूप चित्त ध्येय वस्तु के आकार प्रवाह को प्राप्त हो जाता है और प्राणवायु सुषुम्ना में घुसता है, तब चित्त की समता होने पर इन मुद्राओं की भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्
प्राणोऽपिजीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः।।१५

टीका—जब तक प्राण जीवित रहता है, तब तक मन भी

नहीं मरता, फिर ज्ञान ही कहाँ से होगा। जो पुरुष प्राण और मन दोनों का लय कर देता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है, कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता।१५।

व्याख्या—हठयोग के अभ्यास के बिना ज्ञान और मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं है और हठ का अभ्यास तभी बन सकता है जब मन को वश में कर लिया जाय। परन्तु मन का वश में होना तब तक असम्भव है, जब तक कि प्राण के साथ इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। इड़ा और पिंगला में जब तक प्राण बहता है तब तक उसका जीवित रहना मानते हैं, क्योंकि इड़ा, पिंगला को छोड़कर जब वह सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है तब मनुष्य की अवस्था मृतक जैसी हो जाती है।

इन्द्रियाँ जब तक अपने-अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ रहती हैं, तब तक उनका जीवित रहना समझना चाहिए। उन विषयों की उत्पत्ति मन से होती है और जब तक मन उन विषयों को उत्पन्न करता रहता है, तब तक मन का जीवन रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन का अपने-अपने कार्य से निवृत्त हो जाना ही उनका मरण है।

इस प्रकार प्राण, मन और इन्द्रियों के चेष्टाशील रहने से आत्मसाक्षात्कार रूप अनुभव का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण, मन और इन्द्रियों को वृत्ति ज्ञान में अवरोध स्वरूप होती है। इसलिए प्राण और मन का विशेष रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। 'सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति' (यो.द.) अर्थात् 'चित्त और पुरुषों को समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।'

प्राण का लय क्या है? व्यापार-रहित प्राण की ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति ही प्राण का लय माना गया है। यथा–

**प्राण शक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते।**
**द्रव्यच्छायानुद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम्।।**

**-योगवसिष्ठ ५।१३।८३**

**अर्थात्**–हे राम ! प्राणशक्ति का निरोध होने पर मन का लय हो जाता है। जैसे पदार्थों की छाया ही पदार्थ होता है, वैसे ही प्राण की छाया मन है।

इसमें सिद्ध हुआ की प्राण और मन में अभेद है क्योंकि 'प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्ति विलीयते' (बोधसार) अर्थात् 'प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।' और प्राण का विलय होने का अर्थ उसकी वृत्ति का ब्रह्मारन्ध्र रूप शून्य में लय हो जाना ही है। यदि मन का लय नहीं होता तो प्राण का लय भी नहीं हो सकता, उस स्थिति में योगी हजारों उपायों के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। यह मत सभी शास्त्रों का है।

अध्यात्म योग की प्राप्ति के लिए मन से हर्ष शोक का त्याग करना आवश्यक है। उनके त्याग से श्रद्धा, भक्ति की उत्पत्ति के साथ योग के अष्टाङ्गों में प्रविष्ट हो सकती हैं। उस वृत्ति की दृढ़ता होने पर साधक को आत्मदर्शन की अभूतपूर्व अनुभूति होती हैं, उस समय मन-सहित पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयों से रहित होने पर साधक अप्रमत्त होकर आत्मतत्त्व के रूप में ब्रह्मतत्त्व के दर्शन करता है, वही उसकी परमपद की

प्राप्ति मानी जाती है। इसीलिए ब्रह्मोपनिषत् का उपदेश है कि–

**आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम्।**

**ध्याननिर्मथनाभ्यांसाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्।।**

**अर्थात्**–आत्मा को नीचे की अरणि और प्रसव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

और उस आत्म साक्षात्कार से ही मनुष्य संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त हो जाता हैं। उनके स्थानों पर आत्मा की उपासना ओंकार रूप से करने का उपदेश मिलता है। क्योंकि जो ओंकार हैं वही ब्रह्म है–

**यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परंब्रह्म मीयते।**

**सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते।।**

**अर्थात्**–जिसमें वह 'ओंकार शब्द लीन होता है, वही परब्रह्म कहा जाता है वही अमृतत्व माना गया है, यह सत्य है। इस प्रकार प्राण और मन के विलय से मोक्ष की प्राप्ति कही है, वह सन्देहास्पद नहीं मानी जा सकती। मोक्ष क्या है? इसका समाधान कुछ विद्वान् इतना ही करते हैं कि चित्त वृत्ति का निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है? क्योंकि शरीर में आत्मभाव ही विकार है और वही विकार जीव के लिए ब्रन्धन स्वरूप है। 'देहत्रयमसद्विद्धिकालत्रयमसत्सदा (तेजोबिन्दु) अर्थात् सूक्ष्म, स्थल और लिंग इन तीनों शरीरों को असत् समझना चाहिए। तीनों काल भी सदा असत् ही है' इसलिए साधक आत्म की देह से भिन्न समझता हुआ आत्मा और परमात्मा में अभेद-दर्शन करे।

तेजोबिन्दूपनिषत् के ही अनुसार–

**ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।**
**ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्द दायकः।।**

अर्थात्–मैं ब्रह्म हूँ 'ऐसी निराश्रय श्रेष्ठ वृत्ति में स्थित होना ही ध्यान शब्द से विख्यात परम आनन्द को देने वाली अवस्था है।

इन सबसे सिद्ध होता है कि प्राण और मन के लय होने पर अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो आलम्ब-रहित श्रेष्ठ वृत्ति होती हैं वह परमानन्द प्राप्त कराने वाली और सुख दुःख से निवृत्ति कराने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष हैं।

# जीवन्मुक्ति का लक्षण

**ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।**
**स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्।।१६**

**टीका**–श्रेष्ठ स्थान में रहकर और सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर साधक प्राणवायु का सुषुम्ना में संचार करे।१६।

**व्याख्या**–इस लोक में प्राण के लय की विधि बताई गई है। साधक किसी श्रेष्ठ स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। श्रेष्ठ स्थान के विषय में पहले बता चुके हैं कि उत्तम राज्य हो और धार्मिक स्थान हो, वहाँ एकान्त में बैठकर साधना करनी चाहिए और गुरु के उपदेश से सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट करना चाहिए। वह प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, वहाँ उसका निरोध करें।

इस प्रकार प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना ही मन का लीन हो जाना है और मन के लीन होने से कोई विकार शेष नहीं रहता, निर्वाण ही शेष रहता है। यही साधक की श्रेष्ठ स्थिति है।

# प्राणलय से कालजय कथन

**सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम्।**
**भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्।।१७**

**टीका**–सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि दिवसात्मक काल के धारण करने वाले हैं और उस काल को भोगने वाली सुषुम्ना है, यह गुह्य रहस्य प्रकट किया है।१७।

**व्याख्या**–प्राण का लय हो जाने पर ही योगी काल को जीतने में समर्थ होता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात्रि स्वरूप काल को उत्पन्न करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी उस दिन-रात्रि अर्थात् एक घण्टा सूर्य स्वर और एक घण्टा चन्द्र स्वर के प्रवाह हित रहता है। सूर्य स्वर के प्रवाह वाला समय दिन और चन्द्र स्वर के प्रवाह वाला समय रात्रि होता है। इस प्रकार दिन रात्रि रूप काल दो घण्टे में ही पूरा हो जाता है। और इसके अनुसार चौबीस घण्टे में योगियों के बारह दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं।

जब सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है तब उसके लिए दिन-रात्रि रूप काल का अभाव हो जाता है, इसी लिए सुषुम्ना को काल का भक्षण करने वाला कहा है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जितने समय तक स्थित रहता है, उतने ही समय के लिए योगी की आयु वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार

दीर्घकाल तक इसका अभ्यास सिद्ध कर लेने वाला योगी अपना मरण-काल निकट जानकर, यदि जीवन की इच्छा करता है तो प्राणवायु को सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर निरुद्ध करता है तब उसकी मृत्यु नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि योगी की स्वेच्छा मृत्यु होती है।

**द्वासप्ततिसहस्राणि नाड़ीद्वाराणि पंजरे।**
**सुषुम्ना शांभवीं शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।।१८**

**टीका**—मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वार हैं, उनमें सुषुम्ना नाड़ी शाम्भवी शक्ति है और शेष सब नाड़ियाँ निरर्थक हैं।१८।

**व्याख्या**—'पंजर' का अर्थ है अस्थि-नाड़ी से बँधा हुआ शरीर। मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ होती हैं, परन्तु वे शरीर में अन्न-रस वहन करने का ही कार्य करती हैं, जो कि देहासक्त व्यक्तियों के लिए तो उपयोगी होती हैं, परन्तु योगी के लिए उनका महत्व शरीर-यात्रा चलाने भर के लिए है, उसे उनमें मोह नहीं रहता। क्योंकि वह शरीर-परक न होकर आत्मा-परक होता है।

उन बहत्तर हजार नाड़ियों में एक सुषुम्ना नाड़ी ही ऐसी है, जो साधक के लिए विशेष रूप से उपकार करने वाली सिद्ध होती है। उसी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। विद्वानों ने उसे शाम्भवी शक्ति भी कहा है, क्योंकि वही नाड़ी साधक को शिव की प्राप्ति कराने में सहायक होती है।

**वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम्।**

**बोधयित्वा सुषुम्नायाँ प्रवेशेदनिरोधतः।।१६**
**सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी।**
**अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम्।।२०**

**टीका**—परिचित हुआ वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली को बोधित करके अवरोध रूप सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध हो जाती है। योगियों के इससे अन्य अभ्यास के जितने भी प्रयास हैं, वे सब व्यर्थ होते हैं।१६—२०।

**व्याख्या**—परिचित का अर्थ है अभ्यास और अभ्यास किया हुआ वायु ही जठराग्नि के साथ मिलकर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में समर्थ होता है। 'अधोगतिमपान वै ऊर्ध्वग कुरुते बलात्' इत्यादि (यो.कु.उ.) से अपान वायु ऊपर जाकर अग्नि मण्डल से मिलता है तब अग्नि की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है, उस ताप से सन्तप्त हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और सुषुम्ना के मुख में घुस जाती है।

जब कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है, तब सुषुम्ना का मुख खुला रहता है, जिससे प्राण की मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं रहती और वह भी उसमें घुसकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, तो मनोन्मनी अवस्था हो जाती है। इसलिए योगियों के लिए इसी का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि अन्य किसी प्रकार के अभ्यास से मनोन्मनी अवस्था नहीं हो सकती, इसलिए वैसे प्रयास निष्फल ही समझने चाहिए।

**पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।**

**मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।।२१**
**हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।**
**तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तौ द्वावपि विनश्यतः।।२२**
**मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।**
**पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।।२३**

**टीका**–जिस अभ्यास से योगी वायु का बन्धन करता है, उसी से मन का बन्धन कर लेता है। इस प्रकार जिससे मन का बन्धन होता है, उसी से वायु का बन्धन हो जाता है। चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु होते हैं वासना और वायु। इनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। जहाँ मन विलीन होता है वहीं वायु विलीन हो जाता है और जहाँ वायु लीन होता है, वहाँ मन भी लीन हो जाता है।२१–२३।

**व्याख्या**–प्राणवायु के अभ्यास से योगी जब मन को वश में कर लेता है, तब उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन का धर्म है चिन्तन और मन के लय से चिन्तन का त्याग होकर निश्चिन्तता का उदय होता है। मन क्या है? इस विषय में विद्वानों का मत है कि प्राण का स्पन्दन ही मन है, परन्तु प्राण के स्पन्दन-रहित होने पर मन की रक्षा होती है। इस प्रकार प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि सुषुम्ना में चढ़ता हुआ प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर लीन हो जाता है तब उसके साथ मन भी लय हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि जिससे प्राण का बन्धन है उसी से मन का भी है और जिस से मन का बन्धन हैं, उसी से प्राण का बन्धन होता है।

चित्त की प्रवृत्ति दो कारणों से होती है, एक तो वासना से

और दूसरे वायु से। इन दोनों में से एक नष्ट हो जाय तो वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वासना के नष्ट होने पर वायु और चित्त नष्ट होते हैं और वायु के क्षीण होने पर चित्त और वासना का नाश हो जाता है। इसका सीधा साधा अर्थ है कि चित्त से वासना का विकार दूर होते ही चित्त शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने पर ही तत्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

कुछ विद्वानों के विचार में तत्वज्ञान होने पर ही चित्त के संयम से वासना का शमन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त की प्रवृत्ति वासना और प्राणवायु इन तीनों का बन्धन आवश्यक है इसके बिना आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए इन तीनों के बन्धन का अभ्यास योगी के लिए कर्त्तव्य हैं।

जहाँ मन का लय हो, वहीं वायु का लय होगा और जहाँ वायु का विलय हो, वहीं मन का विलय होता है। अर्थात् प्राणवायु के साथ संयुक्त हुआ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में ही जाकर लय को प्राप्त होता है। 'वायु, बिन्दुं तथा चक्रंचैव समभ्यसेत्' इत्यादि (यो.कु.उ.) अर्थात 'प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगिजन ऐक्यरूपता की समाधि तक पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार साधक को प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। उसी से मन पर भी विजय प्राप्त हो सकती है और मन-प्राण का जीता जाना ही तत्वज्ञान की उपलब्धि है।

**दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।**
**यतोमरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः।।२४**
**तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकस्यवृत्तेर परप्रवृत्तिः।**
**अध्वस्तयोर्चेन्द्रियवर्गवृत्ति प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः।।२५**
**रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः।**
**रसो बद्धो मनो बद्धं कि न सिद्धय्ति भूतले।।२६**

**टीका**–दुग्ध और जल के समान संयुक्त मन और वायु तुल्य क्रिया है। जहाँ वायु की प्रवृत्ति है, वहाँ मन की प्रवृत्ति है और जहाँ मन की प्रवृत्ति है, वहीं वायु की प्रवृत्ति है वहाँ एक के नाश से दूसरे का नाश होता है, एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब तक सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना नहीं रुकता, तब तक मोक्षपद की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। रस और मन स्वभावतः ही चपल होते हैं, रस और मन बद्ध हो जाँय तो भूतल पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता? ।२४–२६।

**व्याख्या**–जैसे दूध और जल मिलकर एक हो जाते हैं अनेक रूप और क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही मन और प्राणवायु के संयोग को समान समझना चाहिए। तुल्यक्रिया का अर्थ है दोनों की प्रवृत्ति का एक समान होना। जिस स्थान में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी स्थान में प्राण की प्रवृत्ति होती है। मुण्डकोपनिषत् में कहा है–

**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो**
**यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।**
**प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां**

**यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।**

**अर्थात्**–जिस शरीर में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, शरीरधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है।

इस प्रकार मुण्डक में भी मन को प्राण से व्याप्त कहकर उनकी समानता ही प्रकट की गई है। एक दूसरे का इतना तादात्म्य होने से यह कहना उचित ही है कि इनमें से एक के नाश से दूसरे का नाश हो जाता है और एक व्यापार नहीं करता तो दूसरा भी नहीं करता। सभी इन्द्रियाँ तभी तक अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं, जब तक कि मन या प्राण उन्हें उसके लिए प्रेरित करता। यह नहीं हो सकता कि मन किसी इन्द्रिय को उसके विषय में प्रेरित करे और प्राण का सहयोग न मिले तो वह इन्द्रिय अपने व्यापार प्रवृत्त हो जाय।

रस अर्थात् पारद की चंचलता सभी पर विंदित है, जैसे वह किंचित् उष्णता पाकर ही अपने स्थान से चलायमान होकर अन्यत्र बढ़ता है, वैसे ही मन भी स्वभाव से ही चंचल है, वह कभी कहीं और कभी कहीं उड़ान भरता है। इसीलिए साधक को उस मन के निरोध का कर्त्तव्य रूप से उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी साधक तो सदा यही विश्वास रखता है–

**लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया।**
**स्वल्पस्पन्दो द्रव्य निष्ठो रसो नाहमचेतनः।।**

**-सन्यासोपनिषत्**

**अर्थात्**—चंचल मन और मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन मैं नहीं हूँ।

**मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्।**
**बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति।।२७**

**टीका**—आदिनाथ कहते हैं कि हे पार्वति ! मूर्च्छित रस और प्राण रोगों का हरण करता है और मरा हुआ रस एवं ब्रह्मरन्ध्र में लय को प्राप्त हुआ प्राण मनुष्य का जीवन देता और खेचरत्व प्राप्त कराता है।२७।

**व्याख्या**—जैसे वनौषधियों के योग से घोटकर पारद की चपलता नष्ट कर दी जाती है, तब उसकी मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हुआ पारद और प्राण सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है।

पारद को भस्म कर लिया जाय तो वह मरा हुआ कहा जाता है और प्राणवायु का भी निरोध करके उसे सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया जाय तो वह भी मृत कहलाता है, क्योंकि इड़ा-पिङ्गला से विलग होकर सुषुम्ना में प्रवेश करते ही मनुष्य की अवस्था मरे हुए के समान हो जाती है, इसलिए यह प्राण की मृतावस्था मानी गई। इस प्रकार मरा हुआ पारद और प्राण दोनों ही मनुष्यों को दीर्घजीवन प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं।

'बद्धः खेचरतां धत्ते' का अभिप्राय यह है कि क्रिया-विशेष से बद्ध किया हुआ पारा गर्मी प्राप्त होते ही आकाश की ओर गति करता है और भौंहों के मध्य विशेष रूप से धारण किया हुआ

प्राणवायु भी साधक को आकाशगति प्राप्त कराता है। इस प्रकार बद्ध प्राण के प्रभाव से योगी आकाश में पक्षियों के समान उड़ने में समर्थ होता है।

**मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदु स्थरो भवेत्।**
**बिंदुस्थैर्यात्सद सत्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते।।२८**
**इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।**
**मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः।।२९**
**सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापु मतांतरे।**
**मनः प्राणलये कश्चिदानन्ददः संप्रवर्तते।।३०**

**टीका**—मन के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण की स्थिरता से बिन्दु स्थिर होता है। बिन्दु की स्थिरता से सदा सत्व रहता है और उसको शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण है, प्राण का स्वामी लय है और लय नाद से आश्रित है। यही मोक्ष कहलाता है, मतान्तर से ऐसा नहीं भी है। मन और प्राण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता है।२८—३०।

**व्याख्या**—मन के स्थिर होने पर ही प्राण स्थिर होता है, क्योंकि मन चंचल होगा तो प्राण भी चंचल रहेगा। मन की स्थिरता से स्थिर हुआ प्राण वीर्य को चलित नहीं होने देगा और वीर्य चलित नहीं होता, शरीर में विद्यमान रहता है तो शरीर की शक्ति बनी रहती है शक्ति है तो शरीर में स्थिरता रहना स्वाभाविक है।

श्रोत्रादि पंच इन्द्रियों का स्वामी मन ही है क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। उस

मन का स्वामी प्राण है, क्योंकि प्राण के सहयोग के बिना मन की प्रवृत्ति भी निष्फल होती है। परन्तु प्राण का स्वामी है मन का लय हो जाना, जो कि नाद का आश्रित होता है। क्योंकि नाद ही ब्रह्म है, यथा 'नादो ज्योतिर्मयः शिवः' (नाद बिन्दु) अर्थात् 'नाद ही ज्योतिर्मान शिव है।' इसलिए मन का नाद में लय होना मोक्षरूप कहा गया है।

परन्तु उक्त मत से भिन्न मत के कुछेक विद्वान् चित्त के लय होने को मोक्ष रूप नहीं मानते। उनके अनुसार चित्त का लय तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। उनका यह मत प्रस्तुत प्रसङ्ग में उपयुक्त नहीं है क्योंकि मन और प्राण के लय होने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उससे जीवन्मुक्ति की अवस्था रूप उपलब्धि का सुख अवश्य मिलता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने चित्त का प्राण के साथ नाद में लय हो जाना मोक्ष स्वरूप कहा है।

**प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।**<br>
**निश्चेष्टो निर्विकारस्य लयो जयति योगिनाम्।।३१**<br>
**उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।**<br>
**स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः।।३२**

टीका—श्वास-निःश्वास-रहित, विषय के ग्रहण से उन्मुख-चेष्टा रहित और विकार-रहित योगियों का लय होता है। सर्व संकल्पों की उच्छिन्नता, अशेष चेष्टाओं से निवृत्ति, वाणी से न कहा जाने योग्य लय योगियों का होता है।३१—३२।

**व्याख्या**—बाह्य वायु का भीतर पहुँचना श्वास और भीतर के वायु का बाहर निकलना निवास होता है। जिसमें इनकी और इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण का अभाव हो जाय तथा चेष्टा और विकार भी नष्ट हो जाय, इसे लय का होना समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि ध्येय वस्तु के आकार में अन्तःकरण की वृत्ति का एकाकार हो जाना ही लय है।

लय के अन्य लक्षण में मन के कार्यरूप संकल्पों का नष्ट होना चेष्टित् अर्थात् अङ्ग-संचालन व्यवहार का निवृत्त हो जाना आदि का समावेश है। लय को वाणी से नहीं कहा जा सकता, वरन् स्वयं ही अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे लय की उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

**यत्र दृष्टिर्लयस्तव भूतेंद्रियसनातनी।**
**सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते।।३३**
**लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्।**
**अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः।।३४**

**टीका**—जहाँ दृष्टि का लय होता है, वहाँ सनातन भूत और इन्द्रिय नहीं रहते। जीवों की शक्ति रूप विद्या, अविद्या दोनों ही अलक्ष्य में लय होती हैं। इस प्रकार लय कहा जाता है, परन्तु लय का लक्षण क्या है? विषय की विस्मृति और वासनाओं का पुनः न उठना ही लय है।३३–३४।

**व्याख्या**—ब्रह्मरूप अन्तःकरण वृत्ति में मन का लय होता है। जिसमें पृथिवी आदि पंच महाभूत और इन्द्रियाँ हो, वह अविद्या और जीवो की भक्ति रूप विद्या इन दोनों का लय अलक्ष्य में ही

होता है।

विद्या और अविद्या का फल विपरीत है। कठोपनिषत् में यम ने नचिकेता से कहा कि–

**दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।**
**विद्या भीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः।।**

अर्थात्–विद्या अविद्या के फल भिन्न होते हैं हे नचिकेता ! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके, इससे मैं समझता हूँ कि तुम विद्या की ही कामना करते हो।

इस प्रकार भिन्न फल वाली विद्या और अविद्या दोनों का ही पूर्ण रूप से त्याग करके ब्रह्म में चित्त का रम जाना लय है, वही श्रेष्ठ स्थिति है।

फिर भी कुछ लोग लय के विषय में पूछ सकते हैं कि उसका लक्षण क्या होता है? इसका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि शब्दादि सभी विषयों और साथ ही ध्येय विषय की भी विस्मृति हो जाय वही लय का लक्षण है क्योंकि लय का अर्थ है आत्मसात् हो जाना और वासनाओं का पुनः उत्थान न करना आत्मसात का प्रत्यक्ष लक्षण है। 'यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासंछिव एक केवलः' (श्वेताश्वेतर) अर्थात् जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है तब दिन, रात्रि, सत्, असत् का बोध नहीं रहता, उस समय केवल एक शिव ही शेष रहता है।' यही अवस्था 'लय' समझनी चाहिए।

# शाम्भवी मुद्रा वर्णन

**वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।**
**एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।३५**
**अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेवर्जिता।**
**एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।३६**

**टीका**—वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका के समान और शांभवी मुद्रा ही कुल वधु के समान गोपनीय है। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में निमेष और उन्मेष न हो, ऐसी यह शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्र में छिपी रहती है।३५—३६।

**व्याख्या**—शाम्भवी मुद्रा का वर्णन आरम्भ करते हुए प्रथम उसका महत्व प्रकट किया है कि यह मुद्रा परम गोपनीय है। कुलवधू के समान कहने से, यहाँ कुलवधू अर्थात् सद्गृहस्थ की पत्नी की गरिमा स्वीकार की है और वेदादि के सर्व सुलभ होने के कारण उसे गणिका के समान बताकर शाम्भवी मुद्रा की श्रेष्ठता ही व्यक्त की है।

शरीर में जो मूलाधारादि षट्चक्र है उनमें से जो अभीष्ट हो, उस चक्र में लक्ष्य बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति और विषयों वाली दृष्टि जो निमेष उन्मेष से रहित हो ऐसा वह मुद्रा ऋग्वेदादि और योग-दर्शनादि में छिपीं हैं। इससे शुभ की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है इसलिए इसका नाम शाम्भवी मुद्रा हुआ।

**अन्तर्लक्षविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।**
**दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।।**

**मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः।**
**शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम्।।३७**

**टीका**—जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल तारे वाले दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, यह शाम्भवी मुद्रा गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य-अशून्य से भी विलक्षण शाम्भव रूप परम तत्व का स्फुरण होता है।३७।

**व्याख्या**—इस श्लोक में शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप बताया है। त्वमसि आदि महाकाव्यों से जीवात्मा परमात्मा के अभेद रूप लक्ष्य में मन और प्राण का लय होने पर निश्चल दृष्टि खुली रह कर भी बाहर के विषयों को देख नहीं पाता। क्योंकि मन का लय होने पर इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर सकतीं। इस प्रकार ब्रह्म में लय को प्राप्त हुए मन और प्राण जब इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, तब शाम्भवी मुद्रा होती है।

**श्रीशांभव्याश्च खेचर्यां अवस्थाधामभेदतः।**
**भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि।।३८**

**टीका**—शाम्भवी और खेंचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और धाम के भेद से शून्य चित्त सुख स्वरूप चित्त के लय का आनन्द होता है।३८।

**व्याख्या**—शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्रायें समान फल प्रदान करने वाली मानी गई हैं। इनमें से किस मुद्रा का अभ्यास किया जाय? यह साधक की अवस्था और देश काल को देख कर निंश्चय करना चाहिए। अथवा इन दोनों मुद्राओं

में देश-भेद यह है कि शाम्भवी मुद्रा में बाह्य दृष्टि रहने से वहीं स्थिति होती है। परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है, उस परमानन्द की उपलब्धि होती है।

## उन्मनी मुद्रा

**तारे ज्योतिषि संयोज्यकिंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।**
**पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।३९**
**केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।**
**केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानन्ति तारकम्।।४०**

**टीका**—तारों का ज्योति में युक्त करके भौंहों को कुछ ऊपर की ओर करे और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण भर में उन्मनींकारक अवस्था होती है। किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं, वे तारक को नहीं जान सकते।३९—४०।

**व्याख्या**—नेत्रों के तारों को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रकाशमान ज्योति में योजित करे और भृकुटियाँ कुछ ऊपर की ओर उठकार पूर्वोक्त अन्तर्लक्ष्य और बहिर्दृष्टि रूप योग में मन को लगा देना चाहिये। इससे उन्मनी अवस्था हो जाती है। यह उन्मनी अवस्था साधक को तारने वाली है, परन्तु आगम अर्थात् शास्त्रों और निगम अर्थात् वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और यज्ञों का वर्णन होने से उनमें विश्वास रखने वाले लोग योग का अभ्यास नहीं करते; वे संसार-सागर से तारने वाली इस उन्मनी अवस्था को नहीं जान पाते।

**अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-**
**श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनन्निष्पंदभावेन यः।**
**ज्योतिरूपमशेषवीजमखिलं देदीप्यमानं परं।**
**तत्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्।।४१**

**टीका**—अर्द्ध उन्मीलित नयन, स्थिर मन, और नासिका के अग्रभाग में दृष्टि वाला योगी चन्द्र सूर्य का लीन करता हुआ निस्पद भाव से अत्यन्त दैदीप्यमान, ज्योति, स्वरूप अशेष, अखिल विश्व के बीज रूप परम तत्व के पद को जाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय? ।४।

**व्याख्या**—उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले आधे बन्द रहते हैं। उस समय वह स्थिर चित्त से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखता है। उसका मन इस प्रकार लय को प्राप्त हो जाता है कि उसे अपने शरीर में जो स्वच्छ आकाश है, उसमें ज्ञान भी रुका हुआ प्रतीत होता है और प्राण के संचार के उस अवरोध में कारण होती है और शरीर मन और इन्द्रियों की निश्चलता ऐसी स्थिति में अवस्थित हुआ योगी तत्व स्वरूप पदम पद को प्राप्त होता है।

उस परम पद का वर्णन करना बहुत कठिन है अधिक तो क्या अल्प कथन भी नहीं हो पाता। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

**अनिर्बाच्य पदं वक्तुं शाक्यं तै सुरैरपि।**
**स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किंशास्त्रेण प्रकाशते।।**

**अर्थात्**—उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर

सकते, तब शास्त्र ही उस आत्म प्रकाश रूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं?

**दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत्।**
**सर्वदा पूजयेल्लिगं दिवारात्रिनिरोधतः।।४२**

**टीका**—दिन में लिंग का पूजन न करे, रात्रि में भी नहीं करना चाहिए। दिन रात्रि के निरोध को करता हुआ सर्व काल में लिङ्ग-पूजन कर सकते हैं।४२।

**व्याख्या**—उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं रहता। दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा, इन दोनों का संसार होने के समय लिंग पूजन का निषेध है। तात्पर्य यह है कि पिंगला और इड़ा के स्वर-संसार काल में पूजन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्र स्वर के संचार काल में चित्त की स्थिरता नहीं रह पाती, क्योंकि उस समय प्राणवायु चलायमान रहता है इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा। दिन-रात्रि को छोड़कर अन्य सभी कालों में पूजन करने का निर्देश है। क्योंकि सूर्य-चन्द्र का निरोध होने पर प्राण सुषुम्ना में चला जाता है तब मन की भी स्थिरता हो जाती है। इस श्लोक में पूजन शब्द का प्रयोग ध्यान के लिए है, क्योंकि योगी के लिए बाह्य पूजन अपेक्षित नहीं उसके लिए तो ध्यान ही पूजन है। इसलिए लिंग अर्थात् आत्मा के ध्यान का ही निर्देश समझना चाहिए।

## खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन

**सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः।**
**तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः।।४३**
**इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।**
**तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः।।४४**
**सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरं पुनः।**
**संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी।।४५**

**टीका**—बाँयी-दाँयी नाड़ियों में स्थित प्राणवायु जहाँ जाता है, वहीं खेचरी मुद्रा स्थित होती है, इसमें संशय नहीं। इड़ा और पिंङ्गला के मध्य का शून्य प्राणवायु का ग्रास कर ले, उसी शून्य में खेचरी मुद्रा होती है यह कथन बार-बार सत्य ही है। सूर्य और चन्द्रमा के मध्य जो निराश्रय अन्तर है, उस व्योम चक्र में ठीक प्रकार स्थित होने से उस मुद्रा का नाम खेचरी है।४३—४५।

**व्याख्या**—बाँयी नाड़ी इड़ा है, इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं और दाँयी नाड़ी पिंगला है, जो कि सूर्य नाड़ी भी कहलाती है। उनमें स्थित प्राणवायु निकलकर जहाँ पहुँचता है वहीं खेचरी मुद्रा का होना कहा है। इड़ा-पिंगला के मध्य शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उनमें प्राण का स्थिर होना ही प्राण का ग्रास कहलाता है। उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इड़ा-पिंगला के मध्य जो आश्रय रहित अन्तर है, वहाँ आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के मध्य सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में

ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है। 'एवं सहजानन्दे यदा मनोलीयते तदा शाम्भवी भवति' तामेव खेचरी माहुः (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'जब मन ऐसे सहजानन्द में लीन हो जाता है तब जीव को शान्ति मिलती है, यह शाम्भवी है जिसे खेचरी कहते हैं।

**सोमाद्यात्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा।**
**पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे।।४६**
**पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।**
**अभ्यस्ता खेचरीं मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते।।४७**

**टीका**–जिससे चन्द्रमा से अमृत की धारा प्रकट होती है, वह खेचरी मुद्रा साक्षात् शिव-वल्लभा है। अतुल और दिव्य सुषुम्ना को पश्चिम मुख में जिह्वा से पूर्ण करना चाहिए और यदि पूर्व मुख में पूर्ण करे तो निश्चय ही खेचरी मुद्रा होती है। इस प्रकार अभ्यास से सिद्ध हुई इस मुद्रा से उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है।४६–४७।

**व्याख्या**–खेचरी मुद्रा शिवजी को अत्यन्त प्रिय है। उसमें चन्द्रामृत की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास साधक को दीर्घजीवी बनाता है।

सुषुम्ना नाड़ी के दो मुख होते हैं–पश्चिम और पूर्व ! इन दोनों मुखों को प्राण से पूरित करे। इसका ठीक प्रकार से अभ्यास करने पर उन्मनी अवस्था होती है। परन्तु, सुषुम्ना के वल पश्चिम मुख को ही पूरित करने और पूर्व मुख को पूरित न करने से जो खेचरी मुद्रा होती है, वह मूढ़ अवस्था को

उत्पन्न करने वाली है।

**भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।**
**ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं कालो न विद्यते।।४८**
**अभ्यत्सेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः।**
**संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन।।४६**
**निरालंबं मनः कृत्वा च किंचिदपि चिंतयेत्।**
**स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठिति ध्रुवम्।।५०**

**टीका**–भौंहों के मध्य में शिव का स्थान है, वहाँ मन का विलय होता है। उस पद को काल की विद्यमानता से रहित तुर्य पद जानना चाहिए। खेचरी का तब तक अभ्यास करे, जब तक योगी योग निद्रित हो और जब योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। जो योगी मन को आश्रय-रहित करके कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह बाह्याभ्यन्तर के आकाश में घट के समान टिक जाता है, यह निश्चय है।४८–५०।

**व्याख्या**–दोनों भृकुटियों के बीच शिव रूप आत्मा का स्थान माना गया है। वहाँ पहुँची हुई मन की वृत्ति शिवाकार हो जाती है। वह पद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के पश्चात् का अर्थात् चौथा तुरीय पद है, जहाँ काल तो रह ही नहीं सकता।

योग-निन्द्रा में सभी वृत्तियों का निरोध होता है, यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास से सिद्ध होता है। इसकी प्राप्ति के लिये खेंचरी का अभ्यांस करना उचित है। इसके द्वारा मृत्यु भी विजित हो जाता है। इसलिए खेचरी का अभ्यास करता हुआ

योगी मन को आश्रय-रहित कर दे अर्थात् संयमित करे और अन्य किसी प्रकार का चिन्तन न करे। तब जैसे खाला घट बाहर-भीतर आकाश से पूर्ण होता है वैसे ही खेचरी मुद्रा होने पर आलंबन छोड़े हुए योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

**वाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।**
**स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह।।५१**
**एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम्।**
**अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते।।५२**
**अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम्।**
**सिद्ध्यत्यत्र महाकायो महाबलपराक्रमः।।५३**

**टीका**—जैसे बाह्य वायु लीन होता है, वैसे मध्य का भी लीन हो जाता है, इसमें संशय नहीं तथा मन सहित प्राणवायु अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार वायु मार्ग में दिन-रात्रि अभ्यास करते हुए, जिसमें वायु लीन होता है, उसी में मन का भी लय हो जाता है। तलुओं से मस्तक पर्यन्त शरीर की चन्द्रामृत से सिंचित कर ले तो उस योगी को महाबल, पराक्रम और महान् काया की सिद्धि होती है वही उसका अमृत से स्नान करना है।५१—५३।

**व्याख्या**—खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में बाह्य वायु तो लीन होता ही है, क्योंकि उसका भीतर प्रवृत्त होना असम्भव है। इसी प्रकार शरीर के मध्य का वायु इसलिए लीन होता है कि उसकी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु मन के सहित वह वायु अपनी स्थिरता के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थैर्य को प्राप्त

होता है। प्राणवायु के मार्ग सुषुम्ना में सदा अभ्यास करने से वह वायु जीर्ण हो जाता है। उसका जीर्ण ही लय होना है। प्राणवायु लीन होता है, वहीं मन भी लीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही चन्द्रमा से स्रवित होते हुए अमृत से समूचे शरीर का पोषण होता है, जिससे बल-पराक्रम बढ़ता और साधक दीर्घजीवी हो जाता है।

**शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्ति मानसमध्यगाम्।**
**मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम्।।५४**
**खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।**
**सर्व च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।५५**

**टीका**—मन की शक्ति के मध्य और शक्ति को मन के मध्य में करके तथा मन से मन को देख परमपद का धारण करे। ब्रह्म के मध्य आत्मा को और आत्मा के मध्य ब्रह्म को करके सत् को ब्रह्ममय करता हुआ किंचित् भी चिन्ता न करे।५४–५५।

**व्याख्या**—मन को कुण्डलिनी शक्ति में लगा कर उस शक्ति को मन में योजित करे। अर्थात् मन और शक्ति का ऐक्य करके मनन पूर्वक मन का अवलोकन करे, यह देखें कि मन किधर जा रहा है? यदि भटकता है तो उसे वश में करके परम पद की धारणा करें।

'ख मध्ये कुरु चात्मानं' से आकाश के समान व्यापक ब्रह्म में आत्मा को योजित करने का निर्देश है। अथवा आत्मा में ब्रह्म को संयुक्त करता हुआ सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्ममय माने और ब्रह्म का ही चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन न करे।

योगकुण्डल्युपनिषत् का भी ऐसा ही मत है–

**अपरं सन्त्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम्।**
**शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्।।**
**मनसा मन आलोक्य संत्यजेत्परमं पदम्।**
**मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति स्थिति कारणम्।।**

**अर्थात्**–यदि अपने हित की इच्छा हो तो अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग दे और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित हो जाय। मन के द्वारा मन को देख कर और समझ कर उसका त्याग करना ही परमपद है। क्योंकि उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान बिन्दु मन ही है।

**अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवांबरे।**
**अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे।।५६**
**बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम्।**
**सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत्।।५७**

**टीका**–भीतर भी शून्य हो, बाहर भी शून्य जैसे कि जल से रहित घट बाहर-भीतर से शून्य होता है परन्तु समुद्र में डूबा हुआ घट जैसे बाहर-भीतर जल से परिपूर्ण रहता है, वैसे ही समाधि में योगी बाहर-भीतर दोनों ही ओर ब्रह्म से पूर्ण होता है। उसे बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और न आन्तरिक मन से कल्पित पदार्थों का ही चिन्तन करे। सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर, कुछ भी चिन्तन न करे।५५–५७।

**व्याख्या**–इन श्लोकों में समाधि में अवस्थित योगी के अपने स्वरूप स्थित होने का वर्णन करते हैं कि ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के

न होने से अन्य की प्रतीति न हो और अन्य के न देखने से बाहर से भी, आकाश में स्थित घट के बाहर-भीतर जल से शून्य होने के समान योगी भी शून्य हो। इसी प्रकार समुद्र में डूबा हुआ कलश जैसे बाहर और भीतर सर्वत्र जल से परिपूर्ण रहता है, वैसे ही हृदय में ब्रह्माकार वृत्ति और बाहर ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के अभाव से योगी को पूर्ण रहना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यही है कि योगी अपने भीतर तो ब्रह्ममय रहे ही, बाहर भी सर्वत्र ब्रह्ममय ही देखे और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी न देखे न सुने।

उसे बाह्य विषयों या पदार्थों का चिन्तन छोड़ देना चाहिए। जब आत्मज्ञान हो जाता है औपचारिक बाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती। माला, चन्दन, धूप, दीप आदि सब पूजन सामग्री भी उसके लिए निरर्थक रहती है। इसीलिए बाह्य पदार्थों का चिन्तन भी छोड़ दे तथा सभी प्रकार के चिन्तनों को छोड़ कर एक मात्र आत्मा अर्थात् ब्रह्म का ही चिन्तन करे। ब्रह्म विद्योपनिषत् में कहा है–

**तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवास्थितः।**
**पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स वाह्याभ्यन्तरे स्थितः।।**

अर्थात्–जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रहता है। वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है।

इस प्रकार श्लोक में साधक के लिए सर्वत्र ब्रह्ममय मानने और ब्रह्ममय देखने का उपदेश निहित है।

**संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं**
**संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।।**
**संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प**
**माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्।।५८**

**टीका**–यह सम्पूर्ण जगत् संकल्प मात्र की कल्पना रूप है और यह मन का विलास भी संकल्प की कल्पना मात्र ही है। इसलिए हे राम ! संकल्प मात्र में जो प्रीति है उसे त्याग कर और निर्विकल्प के आश्रित होकर निश्चय ही शान्ति को प्राप्त होओ।५८।

**व्याख्या**–इस श्लोक में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्रीराम को दिया हुआ उपदेश है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व प्रपंच मन का विलास मात्र है और इसकी उत्पत्ति संकल्प की कल्पना से ही हुई है। अथवा यह जगत् मानसिक व्यापार रूप संकल्प की रचना है और आशा उत्पन्न करने वाले भवन, वाटिका, ऐश्वर्यादि के रूप में जो विषयों की कल्पना का विलास है, वह भी संकल्प से ही उत्पन्न होता है। इसलिए बाह्याभ्यन्तर असत्य प्रपंच से सत्यत्व बुद्धि का त्याग ही श्रेयस्कर होता है। मैत्रय्युपनिषत् में भी कहा है–

**चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।**
**यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम्।।**

**अर्थात्**–चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसका शोधन करे। 'जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति' यह एक सनातन और गुह्य सिद्धान्त है।

**कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा।**

तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते।।५६
ज्ञेयं सर्व प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः।।६०

**टीका**–जैसे कर्पूर अग्नि में सैंधव जल में लीन होता है, वैसे ही तत्व में संयुक्त हुआ मन भी विलीन हो जाता है। ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाता है, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान के मन सहित नष्ट हो जाने पर दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता।५६–६०।

**व्याख्या**–कर्पूर को अग्नि में डाल दें तो वह अग्नि रूप ही हो जाता है और नमक को जल में मिला दें तो नमक भी आपा खोकर जल रूप हो जाता है। वैसे ही मन भी आत्मा में संयुक्त होने पर आत्माकार हो जाता है। ज्ञान के योग्य और ज्ञान यह मन की कल्पना मात्र हैं, इसलिए इन्हें भी मन ही कहते हैं। क्योंकि मन नहीं तो ज्ञेय और ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिये ज्ञेय और ज्ञान के टिके रहने का कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्चराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवापलभ्यते।।६१
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम्।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते।।६२
एवं नानाविधोपायाः सम्यक्त्वानुभवान्विताः।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः।।६३

**टीका**–यह दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत् मन से ही उत्पन्न है। मन के उक्त उन्मनी भाव में होने पर द्वैत की प्रतीति

नहीं रहती ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन का विलय हो जाता है तब कैवल्य ही शेष रहता है। इस प्रकार समाधि-मार्ग के अनेक विधि के उपाय हैं जो भली भाँति से अनुभव में आने पर पूर्व आचार्यों और महात्माओं ने कहे हैं।६१–६३।

**व्याख्या**–यह स्थावर जङ्गम जीवों के सहित जो विश्व प्रपंच दिखाई देता है वह सब मन की कल्पना से ही उत्पन्न हुआ है और जब मन उस प्रपंच ओर उसके विषयों से हट जाता है, तब उन्मनी अवस्था होती है और उस समय एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् जीवात्मा का ऐक्य स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा है–

**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।**
**बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यैः निर्विषयं स्मृतम्।।**

**-शाट्यायनीयोपनिषत्[1]**

**अर्थात्**–मन ही मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।

समाधि में मन विलय को प्राप्त हो जाता है जिसके बहुत-से उपाय हैं। अनेक ऋषि, मुनि, महात्माओं ने इन विधियों को अपने-अपने अनुभव के आधार पर कहा है।

**सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने।**
**मनोन्मन्यैं नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।६४**
**अशक्यतत्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।**

**प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते।।६५**

**श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति नादानुसंधानमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्।।६६**

**टीका**—सुषुम्ना नाड़ी, कुण्डलिनी और चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले अमृत तथा मनोन्मनी अवस्था को नमस्कार है, जो चिद्रूप महाशक्ति है। जिसका तत्वबोध अशक्य मूढ़ों के लिए भी समस्त है, उस नाद की उपासना गोरक्षनाथ ने कही है। श्री आदिनाथ ने लय के सवा करोड़ उपाय बताये हैं, उन सब में मैं तो एक मात्र नादानुसन्धान को ही मुख्यतम मानता हूँ।६४—६६।

**व्याख्या**—षट्चक्र भेदन में सुषुम्ना का प्रमुख कार्य रहता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति उसी में प्रविष्ट होकर चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होती है। वही चन्द्रामृत का स्राव होता है तथा मनोन्मनी अवस्था की भी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार षट्चक्र भेदन और शिवशक्ति के मिलन में प्रमुख साधन रूप सुषुम्ना आदि के प्रति श्रद्धा भाव रहने पर ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। चित्शक्ति चेतन आत्मा रूप है, इसलिए चेतन के सम्पादक सुषुम्ना आदि को और चित्शक्ति को भी साधक नमस्कार करता है श्लोक में 'नमस्तुभ्यं' कहने का सम्बन्ध सभी से बनता है।

मूढ़ पुरुषों के लिए तत्वज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन होती है, परन्तु गोरक्षनाथ द्वारा कहा हुआ नादानुसन्धान का यह उपाय उनके लिए भी हितकर है। आदिनाथ जी ने चित्त के लय की सवा करोड़ विधियाँ कहीं हैं, परन्तु उन सब में अनाहत ध्वनि का सेवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

**मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रा संधाय शांभवीम्।**
**शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतः स्थमेकधीः।।६७**
**श्रवणपुटनयनयुगलघ्रणमुखानां निरोधनं कार्यम्।**
**शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।।६८**
**आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।**
**निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्।।६९**

**टीका**—मुक्तासन में स्थित हुआ योगी शाम्भवी मुद्रा का सन्धान करके एकाग्र बुद्धि के द्वारा दक्षिण कर्ण में नाद का श्रवण करे। कान, नेत्र, और नसिका के दोनों छिद्र तथा मुख का निरोध करे उससे मल-रहित सुषुम्ना-मार्ग में स्फुट, अमल नाद्र सुनाई देता है। चार अवस्थाएँ आरम्भ, घट, परिचय और चित्तवृत्ति के निरोध रूप योगों में होती हैं।६७—६९।

**व्याख्या**—यहाँ शाम्भवी मुद्रा के द्वारा नादानुसन्धान वर्णन हुआ है। मुक्तासन लगाकर बैठा हुआ योगी आन्तरिक लक्ष्य और बाह्य दृष्टि आदि के रूप में बताई गई शाम्भवी मुद्रा को करता हुआ दाँये कान में नाद श्रवण करे।

नादबिन्दूपनिषत् में कहा है—

**अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।**
**पक्षादिक्षेपमखिलं जित्वा तुर्यपद ब्रजेत्।।**

**अर्थात्**—इस प्रकार किया गया नाद का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को ढक लेता और अकार, मकार रूप दोनों पक्षों को जीतकर प्रणव पर विजय प्राप्त करने से तुर्य पद की प्राप्ति हो जाती है।

नाद के अनुसन्धान कार्य में कान, नेत्र, घ्राण, और मुख को रोककर इन्द्रियों का निरोध करे, इससे सुषुम्ना मार्ग में प्रत्यक्ष और स्पष्ट नाद सुनाई देता है। उस नाद की आरम्भ अवस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था के भेद से चार अवस्थाएँ होती हैं उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जाता है–

# नाद की आरम्भावस्था

**ब्रह्मग्रन्थेर्भरस्द्भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः।**
**विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः।।७०**
**दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धत्वरोगवान्।**
**सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत्।।७१**

**टीका**–ब्रह्मा ग्रन्थि के भेदन से आनन्द का शून्य में उत्पादन होता है और शरीर में अद्‌भुत क्वणक् अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। तब दिव्य देह होकर उसमें दिव्य गन्ध और आरोग्य होता है तथा शून्य रूप सम्पूर्ण हृदय योगयुक्त हो जाता है।७०–७१।

**व्याख्या**–नाद की चार अवस्थाओं में प्रथम आरम्भावस्था का वर्णन इस प्रकार है कि प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब आनन्द को उत्पन्न करने वाला क्वणक् रूप अनाहत नाद उत्पन्न हो जाता है, उससे योगी का शरीर दिव्य गन्ध से परिपूर्ण, रोगरहित दिव्य हो जाता है।

# नाद की घटावस्था

**द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।**

**दृढ़ासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा।।७२**

**विष्णु ग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः।**

**अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत्।।७३**

टीका–दूसरी अवस्थां में प्राणवायु मध्य नाड़ी में प्रवेश करता है तब दृढ़ आसन लगाकर बैठा हुआ वह योगी देवता के समान हो जाता है। फिर विष्णुग्रन्थि का भेदन होने पर परमानन्द का पूजन करने वाले अति शून्य में विमर्द और भेरी का शब्द सुनाई देता है।७२–७३।

**व्याख्या**–नाद की दूसरी अवस्था घटावस्था है, जिसमें प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कण्ठदेश में स्थित मध्य चक्र में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप-लावण्य युक्त एवं निरोग रहता हुआ सम्पूर्ण रूप से देवताओं के समान हो जाता है। फिर कण्ठ में विद्यमान विष्णुग्रन्थि का प्राणायाम के अभ्यास से भेदन कर लेने पर परमानन्द प्राप्ति के सूचक विभर्द नामक बाद्य विशेष अथवा भेरी का शब्द अतिशून्य रूप कण्ठदेश में सुनाई देने लगता है। वह शब्द अत्यन्त आनन्द युक्त होता है जिसमें योगी नितान्त रूप में रम जाता है।

# नाद की परिचयावस्था

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्।।७४
चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसंभवः।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः।।७५
रुद्रग्रन्थिं यदा भित्त्वा सर्वपीठगतोऽनिलः।।७६

**टीका**–तीसरी अवस्था में मर्दल की ध्वनि को जाने और महाशून्य में वायु का संयम करे तो सर्वसिद्धि प्राप्त होती हैं। चित्त के आनन्द को जीतने पर सहज आनन्द होता है तब वह दुःख, जरा, रोग, क्षुधा, निद्रा आदि दोषों से रहित हो जाता है तथा रुद्रग्रन्थि का जब भेदन होता है, तब वायु शर्व पीठ को प्राप्त होता है।७४–७६।

**व्याख्या**–परिचयावस्था में मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती है। उस समय भौंहों के मध्य आकाश स्वरूप एव अणिमादि सिद्धियों के आश्रय स्थान महाशून्य में प्राणवायु जा पहुँचता है। इससे साधक अणिमादि आठों सिद्धियाँ और सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं तथा आज्ञाचक्र में विद्यमान रुद्रग्रन्थि का भेदन करता हुआ प्राण रुद्र के धाम रूप भौहों के मध्य में स्थित हो जाता है।

# नाद की निष्पत्ति अवस्था

**निष्पत्तौ वेणवः शब्दाः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत्।**
**एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्।**
**सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीईश्वरसमो भवेत्।।७७**

**टीका**—नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति अवस्था है। उसमें प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है तब वेणु का शब्द करती हुई तथा क्वणत् रूप में वीणा का शब्द होता है। उस समय चित्त एकाग्रता होने पर राजयोग सिद्ध हो जाती है और योगी सृष्टिसंहार करने में भी समर्थ ईश्वर के समान हो जाता है।७७।

**व्याख्या**—चतुर्थ अवस्था निष्पत्ति में जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त हो जाता है, तब साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते हैं और चित्त में एकाग्रता हो जाने से राजयोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही राजयोग है। ऐसा साधक ईश्वर के समान शक्तिवान् और ऐश्वर्यवान् और सब प्रकार समर्थ हो जाता है।

**अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम्।**
**लयीद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते।।७८**
**राजयोगमलानंतः केवलं हठकर्मिणः।**
**एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्।।७९**

**टीका**—और कुछ हो या न हो अर्थात् मुक्ति हो या न हो, नाद के अनुसन्धान में अखण्ड सुख है और लय से उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है। राजयोग को न

जानकर केवल हठयोग की क्रिया में ही लगे रहने वाले अभ्यासी के परिश्रम को मैं निष्फल समझता हूँ।७८–७९।

**व्याख्या**–पहले भी इस पर प्रकाश डाल चुके हैं कि किसी भी अवस्था में नादानुसन्धान करने में जो अखण्ड सुख होता है, उसकी प्राप्ति राजयोग से ही है और राजयोग के बिना हठयोग का प्रयास व्यर्थ रहता है।

**उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यान मम सम्मतम्।**
**राजयोग पदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम्।।**
**सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादयो लयः।।८०**

**टीका**–उन्मनी अवस्था और राजयोग के पद को शीघ्र प्राप्ति के लिए भौंहों के मध्य में स्नान ही मेरे मत में अल्प बुद्धि वालों के लिए सुखोपाय है तथा नाद से उत्पन्न चित्त का लय शीघ्र ही प्रत्यय का सन्धान करने वाला होता है।८०।

**व्याख्या**–भौंहों के मध्य में ध्यान करने से नाद उत्पन्न होकर चित्त का लय हो जाता है जिससे राजयोग का पद और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। अल्प बुद्धि वाले साधकों के लिए यह उपाय अत्यन्त ही सरल है।

**नादानुसंधानसमाधिमाजां**
**योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्।।**
**आनन्दमेकं वर्चसामगम्य**
**जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः।।८१**
**कर्णौ पिधाय हस्ताभ्याँ यं श्रृणोति ध्वनिं मुनिः।**
**तत्रचित्तं स्थिरीकुर्याद्यत्स्थिरपदं व्रजेत्।।८२**

**टीका**–नाद के अनुसन्धान से जो समाधि होती है, उसके कर्त्ता योगीश्वरों के हृदय में बढ़ता हुआ एक आनन्द होता है, जो कि वाणी से अगम्य है।उसे एक मात्र श्री गुरुनाथ ही जानते हैं। हाथों से कानों को ढ़ककर जो मुनि ध्यान का श्रवण करता है, वह वहाँ चित्त को स्थिर, करके, स्थिरपद को प्राप्त हो जाता है।८१–८२।

**व्याख्या**–अनाहत ध्वनि रूप नाद के अनुसन्धान से चित की एकाग्रता रूप समाधि के करने वाले योगीश्वरों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह श्रीगुरु ही जान सकते हैं और उनकी कृपा से साधक भी उसे जान सकता है। वह ध्वनि अँगूठों के द्वारा कानों को ढककर दाँये कान से सुनी जाती है। उससे चित्त एकाग्र हो जाता और योगी स्थिर अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है।

# विक्षेपजय से सुख प्राप्ति कथन

**अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।**
**पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्।।८३**

**टीका**–अभ्यास किया हुआ यह नाद बाह्य शब्द का आवरण करता है, जिससे योगी पक्षभर में सब विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है।८३।

**व्याख्या**–अभ्यास से सिद्ध हुए इस नाद के द्वारा बाहरी शब्द भीतर नहीं जा पाता, इससे सभी विक्षेप नष्ट हो जाते हैं।

# नाना नाद वर्णन

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः।।८४
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घण्टाकाहलजास्तथा।।८५
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः।
इति नानाविधा नादा श्रूयतेः देहमध्यगा।।८६

**टीका**—प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास बढ़ते जाने पर सूक्ष्म में सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी, झर्झरी के और मध्य में मर्दल, शंख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं। अन्त में किंकणी, वंशी, वीणा और भौरों के गुंजन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं।८४—८६।

**व्याख्या**—नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक को पहले अनेक प्रकार शब्दों के श्रवण का अनुभव होता है और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द सुनने की क्षमता आ जाती है। इस प्रकार समुद्र, मेघ, भेरी आदि के श्रवण का अभ्यास बढ़ने पर अन्त में वंशी, वीणा, भ्रमर-गुंजनादि सुनाई देने लगता है।

महति श्रूयमाणेऽपि मेधभेर्यादिके ध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्।।८७
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मं सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्।।८८

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते।।८६
मकरन्द पिवन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते।।६०

**टीका**—मेघ, भेरी आदि जैसी महती ध्वनि सुनने पर भी वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी नाद का चिन्तन करना चाहिए। महानाद को छोड़ कर सूक्ष्म नाद में और सूक्ष्मनाद को छोड़ कर महा नाद में रमण करते हुए चित्त को अन्यत्र न जाने दे। जिस किसी भी नाद में पहले मन लगे, वहाँ ही स्थिर करने से उसका लय हो जाता है। जैसे मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा पुष्प की गन्ध से अनपेक्ष रहता है वैसे ही नादासक्त चित्त भी विषयों की आकाँक्षा नहीं करता।८७–६०।

**व्याख्या**—जब मेघ-गर्जनादि जैसी महान् ध्वनि सुनाई देने लगे, तब सूक्ष्माति सूक्ष्म ध्वनि के सुनने का अभ्यास करे और जब वह भी दृढ़ हो जाय तब सूक्ष्मनाद को छोड़कर महान् नाद के और महान् नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद के श्रवण का अभ्यास करे। इस प्रकार विभिन्न नादों को सुनते-सुनते जिस नाद में मन लगे, उसी में चित्त को लगा ले और फिर किसी अन्य नाद में चित्त न लगावे तो चित्त का लय उसी नाद में हो जाता है और फिर वह अन्यत्र किसी विषय की ओर आकर्षित नहीं होता।

# मन का चापल्य नाश

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकृशः।।६१
बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरा स्थैर्य छिन्नपक्षः खगो यथा।।६२
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधयो योगसाम्राज्यमिच्छता।।६३

**टीका**–विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त गजेन्द्र के समान विचरण करते हुए मन को वश में करने में नाद रूप तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ हो सकता है। नाद के बन्धन में बँधा हुआ मन अपनी चपलता का भले प्रकार से त्याग करके पर कटे पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। सब चिन्ताओं को छोड़कर सावधान चित्त में जो योगी योग साम्राज्य की इच्छा करता है उसे नाद का अनुसन्धान करना चाहिए।६१–६६३।

**व्याख्या**–शब्दादि विषयों के महान उद्यान में मद से उन्मत्त हुआ जो मन हाथी के समान स्वच्छन्द विचरण करता है, उसका वश में आना बहुत कठिन है। परन्तु नादरूपी अंकुश द्वारा उसे वश में किया जा सकता है। फिर वह मन विषयों की ओर न दौड़ कर स्थिर हो सकता है। इसलिए योग रूपी साम्राज्य की आकांक्षा करने वाले साधक को नाद के अनुसन्धान में तत्पर होना चाहिए।

नादोतरङ्गसारङ्गबंधने वागुरांयते।

अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च।।६४
अन्तरगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना।।६५
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात्।
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम्।।६६

**टीका**—मन रूप अन्तरङ्ग मृग के बन्धन में नाद बागुरा के समान है तथा नाद ही अन्तरङ्ग मृग के वध में व्याध के समान होता है, यमों का जो अन्तरङ्ग मन रूप अश्व हैं, उसके परिघ में अवरोधक नाद ही है। इसलिये योगियों का नाद की ही नित्य वृद्धि करनी चाहिए। नाद रूप गन्धक के धारण से बँधा हुआ मन रूप पारद अपनी विमुक्ति होकर आकाश गमन में समर्थ होता है।६४–६६।

**व्याख्या**—यहाँ मन को मृग और नाद को जाल की उपमा दी गई है। जैसे मृग के बन्धन में जाल का उपयोग है वैसे ही मन के बन्धन में नाद का उपयोग व्यक्त किया गया है, जैसे व्याध मृग को मार सकता है, वैसे ही नाद मन को मारने अथवा उसे निश्चल करने में समर्थ होता है।

यमी का अर्थ है 'यमों' का पालन करने वाला साधक। उसके भीतर जो मन है, वह अश्व के समान तथा नाद परिघ के समान है। इस प्रकार नाद की समर्थता व्यक्त की गई और योगाभ्यासी को नाद की सिद्धि का उपदेश दिया गया है। क्योंकि वागुरा अर्थात् जाल रूप नाद ही मन रूप मृग की चंचलता दूर करने में अवरोधक सिद्ध हो सकता है।

गन्धक-जारण के संयोग से चंचलता हरण होने से पारद गुटिका रूप हो जाता है, वैसे ही नाद के संयोग से मन विषयाकार परिणाम रूप चंचलता से हटकर स्थैर्य रूप ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नाद की सिद्धि होने पर मन चांचल्य को त्याग कर निरालम्ब संज्ञक आकाश रूप अपरिच्छिन्न ब्रह्मपद में गमन करता है। कुछ विद्वानों के मत में श्लोक में साधक को धरती से उठ कर आश्रय-रहित आकाश में गमन करने की सामर्थ्य की प्राप्ति का फल कथन हुआ है। परन्तु कुछ भी अर्थ करें उपलब्धि यही है कि नाद में बँधा हुआ मन ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त होता है।

**नादश्रवणतः क्षिप्रमंरंगभुजंगमः।**
**विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।।६७**
**काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।**
**नादे प्रवतितं चित्तं नादेन सह लीयते।।६८**
**घंटादिनादसक्तस्तब्धांतः करणहरिणस्य।**
**प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत्।।६६**

टीका—नाद के श्रवण से अन्तरङ्ग भुजङ्ग शीघ्र ही सब कुछ भूलकर एकाग्र हो जाता और फिर कहीं नहीं दौड़ता। जैसे काष्ठ में प्रवृत्त हुई अग्नि काष्ठ के सहित ही शमन होती है, वैसे ही नाद में प्रवृत्त हुआ चित्त नाद के संहित लीन होता है। घण्टा आदि के शब्द में आसक्त और स्तब्ध हुए अन्तःकरण रूपी हरिण पर प्रहार करना तभी श्रेष्ठ है, जबकिं शर-सन्धान करने में प्रवीणता हो।६७—६६।

**व्याख्या**—यहाँ मन को सर्प की उपमा देते हुए कहा है कि मन एकाग्र होने पर, विषयों की ओर नहीं दौड़ता। परन्तु वह एकाग्रता नाद में प्रवृत्त होने पर ही हो सकती है। इसलिए साधक को नादानुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ समाधि के एक रूप का वर्णन किया है। 'बितर्क विचारानन्दा स्मितानुरूपागमात् स प्रज्ञातः' (योग दर्शन १।१७) अर्थात् 'वितर्क, विचार, और आनन्द अस्मिता के संबन्ध से संप्रज्ञात योग होता है।' यह जो चार भेद कहें हैं उनमें विचारानुगत भेद को इस प्रकार से समझे कि स्थूल पदार्थों का साक्षात् करने के पश्चात् सूक्ष्म पदार्थों और सूक्ष्म तन्मात्राओं के भावनात्मक विचार के माध्यम से समाधि होती है।

काष्ठ में लगी हुई अग्नि की ज्वालाऐं काष्ठ को भस्म कर के स्वयं शान्त होती है, वैसे ही नाद में युक्त हुआ चित्त नाद में संयुक्त होकर नाद के साथ ही लय को प्राप्त होता है। नाद में आसक्त मन को तभी छेड़ना चाहिए, जब कि प्राणवायु रूप वाण का सन्धान करना जानता हो। आशय यह है कि अन्तः करण रूपी मृग के नाद में आसक्त और निश्चल होने में भी हित देखे और उसे प्राण में तभी योजित करे, जबकि प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रविष्ट करने में प्रवीणता प्राप्त कर ले। इस प्रकार मन-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देना ही अन्तःकरण रूपी मृग पर शर-सन्धान करना है।

# व्यापक आत्मा का परम पद वर्णन

**अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।**
**ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः।**
**मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।१००**

**टीका**–अनाहत शब्द की जिस ध्वनि को प्रतीति होती है, उसी के अन्तर्गत ज्ञेय है और ज्ञेय के अन्तर्गत मन है। वह जहाँ लय को प्राप्त होता है, वह विष्णु का परम पद है।१००।

**व्याख्या**–ज्ञेय रूप प्रकाशमान चैतन्य बिना ताड़न के उत्पन्न होने वाली शब्द-ध्वनि में रहता है और ज्ञेय में अन्तः करण रूपी मन का निवास है अर्थात् मन का लय ज्ञेय में होता है और वह ज्ञेय ही सर्व वृत्तियों से शून्य होकर संस्कार मात्र शेष रहने वाला विष्णु का परमपद है।

विष्णु का अर्थ है व्यापक। यहाँ पर जो परम पद बताया, उसे व्यापक आत्मा का ही परम स्थान समझना चाहिए। इस प्रकार नाद में ज्ञेय रूप चैतन्य आत्मा और ज्ञेय में मन का विलय कहने का अभिप्राय यही है मन का लय आत्मा में ही होता है।

**तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।**
**निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते।।१०१**
**यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।**

**यस्तत्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः।।१०२**

**टीका**—आकाश की तब तक कल्पना होती है, जब तक कि शब्दों का प्रवर्तन होता है तथा शब्द से ही निःशब्द पर ब्रह्म परमात्मा का मान होता है। नाद रूप से जहाँ से जो कुछ सुना जाता है वह सब शक्ति ही है। जिसमें तत्वों का अन्त होता है वही निराकार परमेश्वर है।१०१—१०२।

**अर्थात्**—अनाहत ध्वनि स्वरूप शब्द जब तक श्रवण में आते हैं, तब तक आकाश की कल्पना की जाती है, क्योंकि शब्द स्वयं ही आकाश स्वरूप है। जब मन के सहित शब्द लय को प्राप्त होता है, तब शब्द-रहित परब्रह्म को ही 'परमात्मा' शब्द से पुकारते हैं। अभिप्राय यह है कि सभी वृत्तियाँ जब विलय को प्राप्त हो जाती हैं, तब जो स्वरूप से विद्यमान रहे उसी को परमात्मा समझना चाहिए।

नादरूप से अनाहत ध्वनि के रूप में जो कुछ भी सुनाई देता है, वह शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अर्थात् नाद शक्ति है और जहाँ तत्व लय होते हैं, वह निराकार अर्थात् रूप रहित ब्रह्म है। क्योंकि सभी तत्वों का लय परब्रह्म परमेश्वर में ही होता है।

**सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।**
**राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः।।१०३**

**तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।**
**उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तत्ते।।१०४**

**टीका**—हठ और लय के सभी उपाय राजयोग से सिद्ध हो सकते हैं। और जो पुरुष राजयोग पर समारूढ़ हो जाते हैं, वह काल की वंचना करने में समर्थ होता है। तत्व बीज हैं, और हठ क्षेत्र है तथा उदासीनता जल है इन तीनों से उन्मनी कल्पलता शीघ्र उत्पन्न होकर प्रवृत्त होती है।१०३—१०४।

**व्याख्या**—यहाँ तत्व का अर्थ है, उसी को बीज कहा गया है। क्योंकि उन्मनी अवस्था रूपी अंकुर के आकार द्वारा चित्त ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है। हठ की क्रिया है प्राण-अपान ऐक्य होना, उसी हठयोग को क्षेत्र की संज्ञा दी गई हैं, क्योंकि क्षेत्र के समान जो प्राणायाम होता है, उसी में उन्मनी अवस्था रूपी कल्पना की उत्पत्ति होती है। विषयों से उदासीनता रूपी परम वैराग्य को जल के समान माना है, क्योंकि उन्मनी रूपी कल्पलता की उत्पत्ति और वृद्धि उदासीनता अर्थात् वैराग्य रूपी जल से ही हो सकती है। इस प्रकार वैराग्य रूपी जल का हेतु चित्त का विशेष संस्कार साधक की तन्मयता रूप समाधि का ही स्वरूप समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि क्रमशः चित्त, हठ और उदासीनता रूपी बीज, क्षेत्र (खेत) और जल इन तीनों के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि रूपी उन्मनी कल्पलता की उत्पत्ति शीघ्र हो जाती है। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः' (योग-दर्शन १।१८)

अर्थात्—जिसकी पूर्व अवस्था विराम प्रत्यय है और जिसमें चित्त की स्थिति संस्कार मात्र शेष रह जाती है वह असंप्रज्ञात समाधि है।'

परन्तु पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार का यह कथन भी अल्प महत्व का नहीं है कि हठ और लय के सभी उपायों की सिद्धि राजयोग से ही सम्भव है क्योंकि राजयोग का साधक मृत्यु को भी जीत लेता है।

**सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः।**
**निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ।।१०५**

**टीका**—नाद के अनुसन्धान से सदा संचित पापों का क्षय होता है और चित्त तथा वायु दोनों अवश्य ही लय को प्राप्त होते हैं।१०५।

**व्याख्या**—जो योगी नाद के अनुसन्धान में लगा रहता है उसके सब प्रकार के पाप निर्मूल होकर चित्त और प्राणवायु दोनों ही ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाते हैं। इस कथन से नाद की महिमा और उत्कृष्टता व्यक्त होती है।

## उन्मनी अवस्था में चेष्टा रहितता

**शंखदुन्दुभिनादं च न श्रृणोति कदाचन।**
**काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।।१०६**

**टीका**—वह योगी शंख, दुन्दुभी के नाद को कभी नहीं सुनता तथा उन्मनी अवस्था के कारण शरीर काष्ठ के समान हो जाता है, यह निश्चय है।१०६।

**व्याख्या**—नाद के अनुसन्धान में लगा हुआ योगी जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह काष्ठ के साथ चेष्टा-रहित हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में मन और प्राण का लय होने पर किसी प्रकार की चेष्टा या संज्ञा नहीं रहती और न उसे शंख, दुन्दुभी आदि किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई देता। यहाँ शंख, दुन्दुभी आदि का तात्पर्य शब्द मात्र से है, इसलिए किसी प्रकार का भी शब्द न सुनाई देना समझना चाहिए।

**सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः।**
**मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।।१०७**

**टीका**—उस समय वह सभी अवस्थाओं से मुक्त और सभी चिन्ताओं से रहित हो जाता है तथा मृतक के समान अवस्थित रहता हुआ मुक्त ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।१०७।

**व्याख्या**—व्युत्थानावस्था पाँच मानी जाती हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण। साधक उन सभी अवस्थाओं से छुटकारा प्राप्त कर लेता है, तथा उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता न रहने से सभी वृत्तियों के निरोध रूप योग में स्थिति हो

जाती है। तब वह मृतक के समान निश्चेष्ट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। योगदर्शन १।३ अर्थात् 'उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो जाती है।

**खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।**
**साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना।।१०८**

**टीका**–उसको काल भी नहीं खा सकता, उसके कर्म की भी बाधा नहीं होती। समाधि में अवस्थित वह योगी किसी प्रकार भी साध्य नहीं होता।१०८।

**व्याख्या**–मृत्यु भी समाधि में युक्त हुए योगी का भक्षण नहीं कर सकती। उसे किसी प्रकार का शुभ अशुभ कर्म बाधा नहीं पहुँचा सकता और न उस योगी को पुरुष यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुध आदि किसी उपाय से साध्य कर सकता है अर्थात् दवा सकता है। इस प्रकार समाधिस्थ योगी सभी क्लेशों से मुक्त हो जाता हैं

**न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्श न निःस्वनम्।**
**नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।।१०६**

**टीका**–उस समाधि से युक्त योगी के लिए गंध, रस, रूप, स्पर्श, नाद तथा अपने पराये का ज्ञान भी नहीं रहता।१०६।

**व्याख्या**–गन्ध दो प्रकार की है–सुगन्ध और दुर्गन्ध। रस छः प्रकार का है–मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय और लवण। रूप के सात प्रकार है–शुक्ल, पीत, नील हरित, लोहित, कपिश और चित्र। स्पर्श के तीन भेद हैं–शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत और शब्द के शंख, दुन्दुभी, वीणा, मेग, समुद्रा आदि बाह्य शब्द और नाद रूप आन्तरिक शब्द, इनमें से किसी का भी ज्ञान

समाधि में स्थित पुरुष को नहीं रहता। यही नहीं उस समय वह अपने पराये को भी नहीं जानता।

**चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्नचैवस्मृतिवर्जिमम्।**
**न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः।।११०**

**टीका**–जिसका चित्त न सोता है, न जागता और न उसमें स्मृति या विस्मृति ही रहती है तथा उसमें वृत्ति का भाव-अभाव ही हो, वह योगी निश्चय ही मुक्त है।११०।

**व्याख्या**–चित्त के सोने का अभिप्राय आच्छादक तमोगुण का अभाव होना है, क्योंकि त्रिगुणात्मक अन्तःकरण में जब सत्व, रज की न्यूनता और तमोगुण की अधिकता होती है, तब अन्तःकरण का परिणाम रूप विकार न होने से सुषुप्तावस्था होती है तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है वह जाग्रत अवस्था है। योगी के चित्त पर इन दोनों में से किसी भी अवस्था का प्रभाव नहीं रहता, इसीलिए उसका सुप्त और, जाग्रत अवस्थाओं में रहित होना कहा है।

सम्पूर्ण वृत्तियों का अभाव अथवा उद्‌बोध का भाव से स्मृति-राहित्य और स्मृति के जनक संस्कार का अभाव विस्मृति-राहित्य होता है। यह दोनों भी समाधि में स्थित योगी के चित्त में नहीं होते तथा शेष रहे संस्कारों के कारण न उसके चित्त का नाश होता है और न वृत्तियों की उत्पत्ति के अभाव से चित्त का उदय ही होता है, और ऐसा होने से वह योगी मुक्त ही माना जाता है।

**न विजानाति शीतोष्णं दुःखं न सुखं तथा।**
**न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना।।१११**

**टीका**—समाधि में स्थित योगी शीत, उष्ण, दुःख सुख, मान, अपमान को भी नहीं जानता।१११।

**व्याख्या**—समाधि की अवस्था में अवस्थित हुए योगी को शीतादि का भान नहीं होता। वह किसी प्रकार के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं होती कि कोई उसका सम्मान करता है अथवा अपमान। उसकी ऐसी विकार रहित स्थिति होती है।

**स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते।**
**निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः।।११२**

**टीका**—जो योगी स्वप्न अवस्था और जाग्रत अवस्था में भी सुप्त के समान अवस्थित रहता हुआ श्वांस-उच्छ्वास से भी रहित हो जाता है, वह निश्चित रूप से मुक्त ही है।११२।

**व्याख्या**—स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों और अन्तःकरण में प्रसन्नता रहती है तथा जाग्रत अवस्था में जो इन्द्रियों का व्यापार होता है, उस सबको त्याग देने के कारण वह योगी सोते हुए के समान हो जाता है और तब न तो वह श्वास लेता और न श्वास छोड़ता है। इस प्रसार निश्चल रूप से स्थित हुआ योगी मुक्त ही है। योगचूड़ामण्युपनिषत् में भी कहा है—

**समाधौ परमंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।**
**तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते।।**

**अर्थात्**—समाधि होने पर जो परमज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है, उससे योगी क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है।

# योगी की सर्वथा अवध्यता वर्णन

**अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्।**
**अग्राह्मो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना।।११३**

**टीका**–समाधि में युक्त योगी सब प्रकार के शस्त्रों से अवध्य तथा सभी शरीर धारियों के सामर्थ्य से बाहर होता है और न उसे कोई शरीर धारी अपने वश में कर सकता है। वह किसी मन्त्र और यन्त्र से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं होता।१३।

**व्याख्या**–समाधि में अवस्थित हुए योगी कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार के शस्त्र से नहीं मर सकता है। वह यन्त्र, मन्त्र, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के द्वारा भी प्रभावित नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि उसके लिए कोई विघ्न बाधा स्वरूप नहीं हो सकता।

**यावन्नैव प्रविशति चरुन्मारुतो मध्यमार्गे**
**यावद्बिदुर्नं भवति दृढ़प्राणवातप्रबन्धात्।**
**यावद्धय्ाने सहजसदृशं जायते नैव तत्वं।।**
**तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः।।११४**

**टीका**–जब तक मध्य मार्ग से चढ़ता हुआ प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर नहीं होता और जब तक ध्यान में सहज रूप से तत्व रूपता प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान के दम्भ का प्रलाप मिथ्या ही है।११४।

**व्याख्या**–मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हुआ प्राणवायु जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर स्थिर होता है, तभी साधक का बिन्द भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि स्थिरता भी कुम्भक के दृढ़ करने से ही सिद्ध हो सकती है। इसे पहले बता

चुके हैं और अब पुनः बताते हैं कि मन की स्थिरता से वायु स्थिर होता है, वायु की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता होती है और इनकी अस्थिरता हो तो योग सिद्ध सम्भव नहीं।

इससे समझना चाहिए कि प्राण और बिन्दु के स्थिर होने पर ध्यान में एक रूपता हो सकती है और वह एक रूपता ही तत्व रूपता अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य में सिद्धि प्राप्त करा सकती है। महर्षि पतञ्जलि का कथन है– 'पुरुषार्थ शून्यानाँ गुणानां प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति' (यो.द.४।३४) अर्थात् 'पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने रूप में अवस्थिति हो जाना कैवल्य है।'

श्लोक में 'यावदध्याने सहज सदृशं जायते नैव तत्वं' इत्यादि कहकर ध्यान के अनन्तर सहज रूप से तत्व अर्थात् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती' तब तक ज्ञान हुआ कहना दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र माना है और यह ठीक भी है, क्योंकि मन को विषयों से खींच चैतन्य में स्थिर करना ध्यान और ध्यान को भी भूल जाना समाधि है। यथा 'सर्व शरीरेषु चैतन्यकतानता ध्यानम् ध्यान विस्मृतिः समाधि' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत् १)।

इस प्रकार ध्यान को भी भूल जाने से आत्मतत्व का दर्शन हो सकता है। जब तक वैसी स्थिति न हो तब तक ज्ञान का दम्भ करना व्यर्थ का प्रलाप ही है।

**।।हठयोग प्रदीपिका का चतुर्थ उपदेश समाप्त।।**

# हठयोग प्रदीपिका सम्पूर्ण

# भारतीय संस्कृति
# के
# श्रेष्ठतम् धर्मग्रन्थ

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | ऋग्वेद ४ खण्ड-सम्पूर्ण | (भा० टी०) | ........ |
| २. | अथर्ववेद २ खण्ड-सम्पूर्ण | (भा० टी०) | ........ |
| ३. | यजुर्वेद-सम्पूर्ण | (भा० टी०) | ........ |
| ४. | सामवेद-सम्पूर्ण | (भा० टी०) | ........ |

**उपनिषद्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५. | १०८ उपनिषद् ३ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| ६. | बृहदारण्यकोपनिषद् | (भा० टी०) | ........ |
| ७. | छान्दोग्योपनिषद् | (भा० टी०) | ........ |

**गीता**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८. | ज्ञानेश्वरी भगवद् गीता | (भा० टी०) | ........ |
| ९. | अष्टावक्र गीता | (भा० टी०) | ........ |

**दर्शन**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १०. | वैशेषिक दर्शन | (भा० टी०) | ........ |
| ११. | न्याय दर्शन | (भा० टी०) | ........ |
| १२. | सांख्य दर्शन | (भा० टी०) | ........ |
| १३. | योग दर्शन | (भा० टी०) | ........ |
| १४. | वेदान्त दर्शन | (भा० टी०) | ........ |
| १५. | मीमांसा दर्शन | (भा० टी०) | ........ |

**पुराण**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६. | शिव पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| १७. | विष्णु पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| १८. | मार्कण्डेय पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६. | गरुड़ पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २०. | देवी भागवत पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २१. | हरिवंश पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २२. | पद्म पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २३. | वामन पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २४. | कालिका पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २५. | वाराह पुराण २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| २६. | गणेश पुराण | (भाषा) | ....... |
| २७. | सूर्य पुराण | (भा० टी०) | ........ |
| २८. | आत्म पुराण | (भा० टी०) | ........ |
| २६. | कल्कि पुराण | (भा० टी०) | ........ |
| ३०. | गायत्री पुराण | (भाषा) | ........ |
| ३१. | देवी भागवत पुराण | (भाषा) | ........ |

## रामायण, कथा, इतिहास

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३२. | आनन्द रामायण साइज २२'' २६''/८ | (भा० टी०) | ........ |
| ३३. | श्रीमद्भागवत सप्ताह कथा | (भाषा) | ........ |
| ३४. | महाभारत साइज १८'' × २२''/८ | (भाषा) | ........ |
| ३५. | महाभारत साइज २०'' × ३०''/१६ | (भाषा) | ........ |
| ३६. | पंचतन्त्र | (भा० टी०) | ........ |
| ३७. | हितोपदेश | (भा० टी०) | ........ |
| ३८. | दृष्टान्त सरित सागर | (भा० टी०) | ....... |

## धर्म शास्त्र

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३६. | २० स्मृतियाँ २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| ४०. | मनुस्मृति | (भा० टी०) | ........ |

## नीति शास्त्र

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४१. | कौटिल्य अर्थशास्त्र | (भा० टी०) | ........ |
| ४२. | विदुर नीति | (भा० टी०) | ........ |

४३. चाणक्य नीति (भा० टी०) ........

४४. भर्तृहरिशतक त्रय (भा० टी०) ........

## मन्त्र-साहित्य

४५. मन्त्र शक्ति से रोग निवारण .......... ........

४६. मन्त्र शक्ति से विपत्ति निवारण .......... ........

४७. मन्त्र शक्ति से कामना सिद्धि .......... ........

४८. मन्त्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार .......... ........

४६. शिव सिद्धि .......... ........

५०. भैरव सिद्धि .......... ........

५१. दुर्गा सिद्धि .......... ........

५२. शाबर मन्त्र सिद्धि .......... ........

५३. गणेश सिद्धि .......... ........

५४. हनुमत् सिद्धि .......... ........

५५. बगलामुखी सिद्धि .......... ........

५६. काली सिद्धि .......... ........

## तन्त्र साहित्य

५७ तन्त्र महाविज्ञान २ खण्ड .......... ........

५८. तन्त्र विज्ञान .......... ........

५६. तन्त्र रहस्य .......... ........

६०. यन्त्र महासिद्धि .......... ........

६१. लक्ष्मी सिद्धि .......... ........

६२. दत्तात्रेय तन्त्र .......... ........

६३. उद्दीश तन्त्र .......... ........

६४. रुद्रयामल तन्त्र .......... ........

## गायत्री-साहित्य

६५. गायत्री रहस्य .......... ........

६६. गायत्री सिद्धि .......... ........

६७. महामन्त्र-गायत्री .......... ........

६८. गायत्री साधना के चमत्कार .......... ........

## योग-साहित्य

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६६. | ध्यान की सरल साधनायें | .......... | ........ |
| ७०. | ध्यान के गहरे प्रयोग | .......... | ........ |
| ७१. | त्राटक से मानसिक शान्ति | .......... | ........ |
| ७२. | प्राणायाम के असाधारण प्रयोग | .......... | ........ |
| ७३. | योगासन से रोग निवारण | .......... | ........ |
| ७४. | हिप्नोटिज्म | .......... | ........ |

## वेदान्त

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७५. | योगवासिष्ठ २ खण्ड | (भा० टी०) | ........ |
| ७६. | विचार सागर | (भा० टी०) | ........ |
| ७७. | विचार चन्द्रोदय | (भा० टी०) | ........ |
| ७८. | पंचीकरण | .......... | ........ |

## ज्योतिष और सामुद्रिक

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७६. | मानसागरी | (भा० टी०) | ........ |
| ८०. | ताजिक नीलकण्ठी | (भा० टी०) | ........ |
| ८१. | कर्म विपाक संहिता | (भा० टी०) | ........ |
| ८२. | मुहूर्त चिन्तामणि | (भा० टी०) | ........ |
| ८३. | लग्न चन्द्रिका | (भा० टी०) | ........ |
| ८४. | हस्त रेखा महाविज्ञान | .......... | ........ |
| ८५. | प्रारम्भिक ज्चयोतिष विज्ञान | .......... | ........ |
| ८६. | द्वादश ग्रह फलादेश विज्ञान | .......... | ........ |
| ८७. | महादशा विज्ञान | .......... | ........ |
| ८८. | ज्योतिष योग रत्नाकर | .......... | ........ |
| ८६. | रत्न ज्योतिष विज्ञान | .......... | ........ |

प्रकाशक :-

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ०प्र०)